

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्ने चौथे अध्यायके तैत्तिरीयसर्वे श्लोकतक कर्म तथा पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करके तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीकी प्रशंसा की और इसके लिये (चौथे अध्यायके चौत्तीसवें श्लोकमें) अर्जुनको आज्ञा दी। तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इस प्रणालीमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके एकान्तमें परमात्मतत्त्वका मनन करना आवश्यक है। अर्जुनके मनमें पहले ही युद्धरूप कर्म न करनेका भाव था; क्योंकि वे अपना कल्याण चाहते थे और युद्धको पाप समझते थे। अतः अर्जुनने समझा कि भगवान् मेरे लिये इस प्रकार कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान-प्राप्तिके लिये साधन करनेको कहते हैं।

फिर चौथे अध्यायके ही अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि उसी तत्त्वज्ञानको साधक कर्मयोगके द्वारा अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि कर्मयोगके साधकको ज्ञान-प्राप्तिके लिये दूसरे साधनोंकी तथा तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर निवास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इससे स्पष्ट ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें कर्मयोगकी विशेषरूपसे प्रशंसा हुई है।

इस प्रकार अर्जुनने चौथे अध्यायके तैत्तिरीयसर्वे श्लोकमें ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीकी प्रशंसा सुनी और चौत्तीसवें श्लोकमें 'विद्धि' पदसे उस प्रणालीसे ज्ञान प्राप्त करनेकी अपने लिये विशेष आज्ञा मानी। फिर अड़तीसवें और इकतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी। बयालीसवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' पदसे कर्मयोगकी विधिसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी। इस तरह ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंकी प्रशंसा सुनकर तथा दोनोंके लिये आज्ञा प्राप्त होनेपर अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमें कौन-सा साधन मेरे लिये श्रेष्ठ है। अतः इसका निर्णय भगवान्से करानेके उद्देश्यसे अर्जुन प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण! (आप)	योगम्	= कर्मयोगकी	सुनिश्चितम्	= निश्चितरूपसे
कर्मणाम्	= कर्मोंका	शंससि	= प्रशंसा करते हैं।	श्रेयः	= कल्याणकारक
सन्न्यासम्	= स्वरूपसे त्याग	(अतः)		हो,	
	करनेकी	एतयोः	= इन दोनों साधनोंमें	तत्	= उसको
च	= और	यत्	= जो	मे	= मेरे लिये
पुनः	= फिर	एकम्	= एक	ब्रूहि	= कहिये।

व्याख्या—‘सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण’—कौटुम्बिक स्नेहके कारण अर्जुनके मनमें युद्ध न करनेका भाव पैदा हो गया था। इसके समर्थनमें अर्जुनने पहले अध्यायमें कई तर्क और युक्तियाँ भी सामने रखीं। उन्होंने युद्ध करनेको पाप बताया (गीता—पहले अध्यायका पैतालीसवाँ श्लोक)। वे युद्ध न करके भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझने लगे (दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) और उन्होंने निश्चय करके भगवान्से स्पष्ट कह भी दिया कि मैं किसी भी स्थितिमें युद्ध नहीं करूँगा (दूसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)।

प्रायः वक्ताके शब्दोंका अर्थ श्रोता अपने विचारके अनुसार लगाया करते हैं। स्वजनोंको देखकर अर्जुनके हृदयमें जो मोह पैदा हुआ, उसके अनुसार उन्हें युद्धरूप कर्मके त्यागकी बात उचित प्रतीत होने लगी। अतः भगवान्के शब्दोंको वे अपने विचारके अनुसार समझ रहे हैं कि भगवान् कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके प्रचलित प्रणालीके अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी ही प्रशंसा कर रहे हैं।

‘पुनर्योगं च शंससि’—चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्ने कर्मयोगीको दूसरे किसी साधनके बिना अवश्यमेव तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेकी बात कही है। उसीको लक्ष्य करके अर्जुन भगवान्से कह रहे हैं कि कभी तो आप ज्ञानयोगकी प्रशंसा (चौथे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक) करते हैं और कभी कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं (चौथे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

‘यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्’—इसी तरहका प्रश्न अर्जुनने दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी **‘यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे’** पदोंसे किया था। उसके उत्तरमें भगवान्ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें-अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगकी व्याख्या करके उसका आचरण करनेके लिये कहा। फिर तीसरे अध्यायके दूसरे श्लोकमें अर्जुनने **‘तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्’** पदोंसे पुनः अपने कल्याणकी बात पूछी, जिसके उत्तरमें भगवान्ने तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें निष्काम, निर्मम और निःसंताप होकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी तथा पैतीसवें श्लोकमें अपने धर्मका पालन करनेको श्रेयस्कर बताया।

यहाँ उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनने जो बात पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्ने कहा है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है (पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक), कर्मयोगी सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक), कर्मयोगके बिना सांख्ययोगका साधन सिद्ध होना कठिन है; परन्तु कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है (पाँचवें अध्यायका छठा श्लोक)। इस प्रकार कहकर भगवान् अर्जुनको मानो यह बता रहे हैं कि कर्मयोग ही तेरे लिये शीघ्रता और सुगमतापूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है; अतः तू कर्मयोगका ही अनुष्ठान कर।

अर्जुनके मनमें मुख्यरूपसे अपने कल्याणकी ही इच्छा थी। इसलिये वे बार-बार भगवान्के सामने श्रेयविषयक जिज्ञासा रखते हैं (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। कल्याणकी प्राप्तिमें इच्छाकी प्रधानता है। साधनकी सफलतामें देरीका कारण भी यही है कि कल्याणकी इच्छा पूरी तरह जाग्रत् नहीं हुई। जिन साधकोंमें तीव्र वैराग्य नहीं है, वे भी कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होनेपर कर्मयोगका साधन सुगमतापूर्वक कर सकते हैं*। अर्जुनके हृदयमें भोगोंसे पूरा वैराग्य नहीं है, पर उनमें अपने कल्याणकी इच्छा है, इसलिये वे कर्मयोगके अधिकारी हैं।

पहले अध्यायके बत्तीसवें तथा दूसरे अध्यायके आठवें श्लोकको देखनेसे पता लगता है कि अर्जुन मृत्युलोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, त्रिलोकीका राज्य भी नहीं चाहते। परन्तु वास्तवमें अर्जुन राज्य तथा भोगोंको सर्वथा नहीं चाहते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। वे कहते हैं कि युद्धमें कुटुम्बीजनोंको मारकर राज्य तथा विजय नहीं चाहता। इसका तात्पर्य है कि यदि कुटुम्बीजनोंको मारे बिना राज्य मिल जाय तो मैं उसे लेनेको तैयार हूँ। दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अर्जुन यही कहते हैं कि गुरुजनोंको मारकर भोग भोगना ठीक नहीं है। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि गुरुजनोंको मारे बिना राज्य मिल जाय तो वह स्वीकार है। दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें अर्जुन कहते हैं कि कौन जीतेगा—इसका हमें पता नहीं और उन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते। इसका तात्पर्य है कि यदि हमारी विजय निश्चित हो तथा उनको मारे बिना राज्य मिलता हो तो मैं

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।

..... । तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६-७)

लेनेको तैयार हूँ। आगे दूसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरे तो दोनों हाथोंमें लड्डू हैं; यदि युद्धमें तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा और जीत गया तो राज्य मिलेगा। यदि अर्जुनके मनमें स्वर्ग और

संसारके राज्यकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं होती तो भगवान् शायद ही ऐसा कहते। अतः अर्जुनके हृदयमें प्रतीत होनेवाला वैराग्य वास्तविक नहीं है। परन्तु उनमें अपने कल्याणकी इच्छा है, जो इस श्लोकमें भी दिखायी दे रही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥**

श्रीभगवान् बोले—

सन्यासः	= संन्यास (सांख्ययोग)	निःश्रेयसकरौ	= कल्याण करनेवाले हैं।	कर्मसन्यासात्	= कर्मसंन्यास (सांख्य- योग)-से
च	= और	तु	= परन्तु	कर्मयोगः	= कर्मयोग
कर्मयोगः	= कर्मयोग	तयोः	= उन दोनोंमें (भी)	विशिष्यते	= श्रेष्ठ है।
उभौ	= दोनों ही				

व्याख्या—[भगवान्के सिद्धान्तके अनुसार सांख्ययोग और कर्मयोगका पालन प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके मनुष्य कर सकते हैं। कारण कि उनका सिद्धान्त किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर नहीं है। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मोंका त्याग करके विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीको 'कर्मसंन्यास' नामसे कहा है। परन्तु भगवान्के सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान-प्राप्तिके लिये सांख्ययोगका पालन प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतासे कर सकता है और उसका पालन करनेमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता भी नहीं है। इसलिये भगवान् प्रचलित मतका भी आदर करते हुए अपने सिद्धान्तके अनुसार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।]

'सन्यासः'—यहाँ 'सन्यासः' पदका अर्थ 'सांख्य-योग' है, कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं। अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कर्मोंके त्यागपूर्वक संन्यासका विवेचन न करके कर्म करते हुए ज्ञानको प्राप्त करनेका जो सांख्ययोगका मार्ग है, उसका विवेचन करते हैं। उस सांख्ययोगके द्वारा मनुष्य प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिमें रहते हुए प्रत्येक परिस्थितिमें स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है अर्थात् अपना कल्याण कर सकता है।

सांख्ययोगकी साधनामें विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है। विवेकपूर्वक तीव्र वैराग्यके बिना यह साधना सफल नहीं होती। इस साधनामें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होकर एकमात्र परमात्मतत्त्वपर दृष्टि रहती है। राग मिटे

बिना संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होना बहुत कठिन है। इसलिये भगवान्ने देहाभिमानियोंके लिये यह साधन क्लेशयुक्त बताया है (गीता—बारहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके छठे श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है कि कर्मयोगका साधन किये बिना संन्यासका साधन होना कठिन है; क्योंकि संसारसे राग हटानेके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

'कर्मयोगश्च'—मानवमात्रमें कर्म करनेका राग अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसे मिटानेके लिये कर्म करना आवश्यक है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। परन्तु वे कर्म किस भाव और उद्देश्यसे कैसे किये जायँ कि करनेका राग सर्वथा मिट जाय, उस कर्तव्य-कर्मको करनेकी कलाको 'कर्मयोग' कहते हैं। कर्मयोगमें कार्य छोटा है या बड़ा, इसपर दृष्टि नहीं रहती। जो भी कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसीको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये करना है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये यह आवश्यक है कि कर्म अपने लिये न किये जायँ। अपने लिये कर्म न करनेका अर्थ है—कर्मोंके बदलेमें अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा न होना। जबतक अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा रहती है, तबतक कर्मोंके साथ सम्बन्ध बना रहता है।

'निःश्रेयसकरावुभौ'—अर्जुनका प्रश्न था कि सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमें कौन-सा साधन निश्चयपूर्वक कल्याण करनेवाला है? उत्तरमें

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! ये दोनों ही साधन निश्चयपूर्वक कल्याण करनेवाले हैं। कारण कि दोनोंके द्वारा एक ही समताकी प्राप्ति होती है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भी भगवान्ने इसी बातकी पुष्टि की है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंसे परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेकी बात कही है। इसलिये ये दोनों ही परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक)।

‘तयोस्तु कर्मसंन्यासात्’—एक ही सांख्ययोगके दो भेद हैं—एक तो चौथे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें कहा हुआ सांख्ययोग, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है और दूसरा, दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक कहा हुआ सांख्ययोग, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है। यहाँ ‘कर्मसंन्यासात्’ पद दोनों ही प्रकारके सांख्ययोगका वाचक है।

‘कर्मयोगो विशिष्यते’—आगेके (तीसरे) श्लोकमें भगवान्ने इन पदोंकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कर्मयोगी नित्यसंन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। फिर छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि कर्मयोगके बिना सांख्य-योगका साधन होना कठिन है तथा कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य है कि सांख्ययोगमें तो कर्मयोगकी आवश्यकता है, पर कर्मयोगमें सांख्ययोगकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये दोनों साधनोंके कल्याण-कारक होनेपर भी भगवान् कर्मयोगको ही श्रेष्ठ बताते हैं।

कर्मयोगी लोकसंग्रहके लिये कर्म करता है—‘लोक-सङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि’ (गीता—तीसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। लोकसंग्रहका तात्पर्य है—निःस्वार्थभावसे लोक-मर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये, लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये कर्म करना अर्थात् केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। इसीको गीतामें ‘यज्ञार्थं कर्म’ के नामसे भी कहा गया है। जो केवल अपने लिये कर्म करता है, वह बँध जाता है (तीसरे अध्यायका नवाँ और तेरहवाँ श्लोक)। परन्तु कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है; अतः वह कर्मबन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है (चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इसलिये कर्मयोग श्रेष्ठ है।

कर्मयोगका साधन प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके द्वारा किया जा सकता है, चाहे वह किसी भी

वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो। परन्तु अर्जुन जिस कर्मसंन्यासकी बात कहते हैं, वह एक विशेष परिस्थितिमें किया जा सकता है (गीता—चौथे अध्यायका चौतीसवाँ श्लोक); क्योंकि तत्त्वज्ञ महापुरुषका मिलना, उनमें अपनी श्रद्धा होना और उनके पास जाकर निवास करना—ऐसी परिस्थिति हरेक मनुष्यको प्राप्त होनी सम्भव नहीं है। अतः प्रचलित प्रणालीके सांख्ययोगका साधन एक विशेष परिस्थितिमें ही साध्य है, जबकि कर्मयोगका साधन प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके लिये साध्य है। इसलिये कर्मयोग श्रेष्ठ है।

प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना कर्मयोग है। युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी कर्मयोगका पालन किया जा सकता है। कर्मयोगका पालन करनेमें कोई भी मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें असमर्थ और पराधीन नहीं है; क्योंकि कर्मयोगमें कुछ भी पानेकी इच्छाका त्याग होता है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रहनेसे ही कर्तव्य-कर्म करनेमें असमर्थता और पराधीनताका अनुभव होता है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। सांख्ययोगी और कर्मयोगी—इन दोनोंको ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, इसलिये दोनों ही साधकोंको कर्तृत्व और भोक्तृत्व—इन दोनोंको मिटानेकी आवश्यकता है। तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि होनेसे सांख्ययोगी कर्तृत्वको मिटाता है। उतना तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि न होनेसे कर्मयोगी दूसरोंके हितके लिये ही सब कर्म करके भोक्तृत्वको मिटाता है। इस प्रकार सांख्ययोगी कर्तृत्वका त्याग करके संसारसे मुक्त होता है और कर्मयोगी भोक्तृत्वका अर्थात् कुछ पानेकी इच्छाका त्याग करके मुक्त होता है। यह नियम है कि कर्तृत्वका त्याग करनेसे भोक्तृत्वका त्याग और भोक्तृत्वका त्याग करनेसे कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही कर्तृत्व होता है। जिस कर्मसे अपने लिये किसी प्रकारके भी सुखभोगकी इच्छा नहीं है, वह क्रियामात्र है, कर्म नहीं। जैसे यन्त्रमें कर्तृत्व नहीं रहता, ऐसे ही कर्मयोगीमें कर्तृत्व नहीं रहता।

साधकको संसारके प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिमें स्पष्ट ही अपना राग दीखता है। उस रागको वह अपने बन्धनका खास कारण मानता है तथा उसे मिटानेकी चेष्टा भी करता है। उस रागको मिटानेके लिये कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ आदिको अपना नहीं मानता*, अपने लिये

* कर्मयोगी सेवा करनेके लिये तो सबको अपना मानता है, पर अपने लिये किसीको भी अपना नहीं मानता।

कुछ नहीं करता तथा अपने लिये कुछ नहीं चाहता। क्रियाओंसे सुख लेनेका भाव न रहनेसे कर्मयोगीकी क्रियाएँ परिणाममें सबका हित तथा वर्तमानमें सबकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही हो जाती हैं। क्रियाओंसे सुख लेनेका भाव होनेसे क्रियाओंमें अभिमान (कर्तृत्व) और ममता हो जाती है। परन्तु उनसे सुख लेनेका भाव सर्वथा न रहनेसे कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। कारण कि क्रियाएँ दोषी नहीं हैं, क्रियाजन्य आसक्ति और क्रियाओंके फलको चाहना ही दोषी है। जब साधक क्रियाजन्य सुख नहीं लेता तथा क्रियाओंका फल नहीं चाहता तब कर्तृत्व रह ही कैसे सकता है? क्योंकि कर्तृत्व टिकता है भोक्तृत्वपर। भोक्तृत्व न रहनेसे कर्तृत्व अपने उद्देश्यमें (जिसके लिये कर्म करता है, उसमें) लीन हो जाता है और एक परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है।

कर्मयोगीका 'अहम्' (व्यक्तित्व) शीघ्र तथा सुगमता-पूर्वक नष्ट हो जाता है, जबकि ज्ञानयोगीका 'अहम्' दूरतक साथ रहता है। कारण यह है कि 'मैं सेवक हूँ' (केवल सेव्यके लिये सेवक हूँ, अपने लिये नहीं)—ऐसा माननेसे कर्मयोगीका 'अहम्' भी सेव्यकी सेवामें लग जाता है; परन्तु 'मैं मुमुक्षु हूँ' ऐसा माननेसे ज्ञानयोगीका 'अहम्' साथ रहता है। कर्मयोगी अपने लिये कुछ न करके केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करता है, पर ज्ञानयोगी अपने हितके लिये साधन करता है। अपने हितके लिये साधन करनेसे 'अहम्' ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

ज्ञानयोगकी मुख्य बात है—संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव करना और कर्मयोगकी मुख्य बात है—रागका अभाव करना। ज्ञानयोगी विचारके द्वारा संसारकी सत्ताका अभाव तो करना चाहता है, पर पदार्थोंमें राग रहते हुए उसकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होना बहुत कठिन है। यद्यपि विचारकालमें ज्ञानयोगके साधकको पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव दीखता है, तथापि व्यवहारकालमें उन पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कर्मयोगके साधकका लक्ष्य दूसरोंको सुख पहुँचानेका रहनेसे उसका राग स्वतः मिट जाता है। इसके अतिरिक्त मिली हुई सामग्रीका त्याग करना कर्मयोगीके लिये जितना सुगम पड़ता है, उतना ज्ञानयोगीके लिये नहीं। ज्ञानयोगी

दृष्टिसे किसी वस्तुको मायामात्र समझकर ऐसे ही उसका त्याग कर देना कठिन पड़ता है; परन्तु वही वस्तु किसीके काम आती हुई दिखायी दे तो उसका त्याग करना सुगम पड़ता है। जैसे, हमारे पास कम्बल पड़े हैं तो उन कम्बलोंको दूसरोंके काममें आते जानकर उनका त्याग करना अर्थात् उनसे अपना राग हटाना साधारण बात है; परन्तु (यदि तीव्र वैराग्य न हो तो) उन्हीं कम्बलोंको विचारद्वारा अनित्य, क्षणभंगुर, स्वप्नके मायामय पदार्थ समझकर ऐसे ही छोड़कर चल देना कठिन है। दूसरी बात, मायामात्र समझकर त्याग करनेमें (यदि तेजीका वैराग्य न हो तो) जिन वस्तुओंमें हमारी सुखबुद्धि नहीं है, उन खराब वस्तुओंका त्याग तो सुगमतासे हो जाता है, पर जिनमें हमारी सुखबुद्धि है, उन अच्छी वस्तुओंका त्याग कठिनतासे होता है। परन्तु दूसरेके काम आती देखकर जिन वस्तुओंमें हमारी सुखबुद्धि है, उन वस्तुओंका त्याग सुगमतासे हो जाता है; जैसे—भोजनके समय थालीमेंसे रोटी निकालनी पड़े तो ठंडी, बासी और रूखी रोटी ही निकालेंगे। परन्तु यदि वही रोटी किसी दूसरेको देनी हो तो अच्छी रोटी ही निकालेंगे, खराब नहीं। इसलिये कर्मयोगकी प्रणालीसे रागको मिटाये बिना सांख्ययोगका साधन होना बहुत कठिन है। विचारद्वारा पदार्थोंकी सत्ता न मानते हुए भी पदार्थोंमें स्वाभाविक राग रहनेके कारण भोगोंमें फँसकर पतनतक होनेकी सम्भावना रहती है।

केवल असत्के ज्ञानसे अर्थात् असत्को असत् जान लेनेसे रागकी निवृत्ति नहीं होती*। जैसे, सिनेमामें दीखनेवाले पदार्थों आदिकी सत्ता नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसमें राग हो जाता है। सिनेमा देखनेसे चरित्र, समय, नेत्र-शक्ति और धन—इन चारोंका नाश होता है—ऐसा जानते हुए भी रागके कारण सिनेमा देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुकी सत्ता न होनेपर भी उसमें राग अथवा सम्बन्ध रह सकता है। यदि राग न हो तो वस्तुकी सत्ता माननेपर भी उसमें राग उत्पन्न नहीं होता। इसलिये साधकका मुख्य काम होना चाहिये—रागका अभाव करना, सत्ताका अभाव करना नहीं; क्योंकि बाँधनेवाली वस्तु राग या सम्बन्ध ही है, सत्तामात्र नहीं। पदार्थ चाहे सत् हो,

* असत्को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति तभी होती है, जब अपने स्वरूपमें स्थित होकर असत्को असत्रूपसे जानते हैं। स्वरूपमें स्थिति करण-निरपेक्ष है। परन्तु बुद्धि आदि करणोंसे असत्को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि बुद्धि आदि करण भी असत् हैं। अतः असत्के ही द्वारा असत्को जाननेसे उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है?

चाहे असत् हो, चाहे सत्-असत्से विलक्षण हो, यदि उसमें भी पदार्थ नहीं बाँधता। बाँधता है हमारा सम्बन्ध, जो रागसे राग है तो वह बाँधनेवाला हो ही जायगा। वास्तवमें हमें कोई होता है। अतः हमारेपर राग मिटानेकी ही जिम्मेवारी है।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान—दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

(योगवासिष्ठ, स्थिति० ३९)

'जो बेसमझ मनुष्यको 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देता है, वह उस मनुष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल देता है।' अतः वाचक ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। फिर जो कर्मयोगका आचरण करता है, उसकी श्रेष्ठताका तो कहना ही क्या! ज्ञानयोगी तो केवल अपने लिये उपयोगी होता है, पर कर्मयोगी संसारमात्रके लिये उपयोगी होता है। जो संसारके लिये उपयोगी होता है, वह अपने लिये भी उपयोगी हो जाता है—यह नियम है। इसलिये कर्मयोग विशेष है।

सांख्ययोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है, पर कर्मयोगके बिना सांख्ययोग होना कठिन है (गीता—पाँचवें अध्यायका छठा श्लोक)। इसलिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है। सांख्ययोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये गीतामें पहले सांख्ययोग, फिर कर्मयोग और फिर भक्तियोग—इस क्रमसे विवेचन किया गया है*।

फलमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। साधनमें कर्मयोग और भक्तियोग एक हैं—'मैत्रः करुण एव च' (गीता १२। १३); क्योंकि कर्मयोग और भक्तियोग—दोनोंमें ही दूसरेको सुख देनेका भाव रहता है। कर्म करनेमें कर्मी और कर्मयोगी एक हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) तथा तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान् भी कर्म करनेमें साथ हैं (गीता—तीसरे अध्यायके बाईसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक)। इस प्रकार कर्मी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और भगवान्—चारोंके साथ कर्मयोगी एक हो जाता है—यह कर्मयोगकी विशेषता है।

सांख्ययोगमें तो अहम्का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर कर्मयोगमें क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अहम्का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता। कर्मयोगमें अकर्म (अभाव) शेष रहता है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और सांख्ययोगमें आत्मा शेष रहता है (गीता—छठे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगको श्रेष्ठ कहनेका कारण बताते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	काङ्क्षति	= आकांक्षा करता है;	निर्द्वन्द्वः	= द्वन्द्वोंसे रहित (मनुष्य)
यः	= जो मनुष्य	सः	= वह (कर्मयोगी)	सुखम्	= सुखपूर्वक
न	= न	नित्यसन्न्यासी	= सदा संन्यासी	बन्धात्	= संसार-बन्धनसे
द्वेष्टि	= (किसीसे) द्वेष करता है (और)	ज्ञेयः	= समझनेयोग्य है;	प्रमुच्यते	= मुक्त हो जाता है।
न	= न (किसीकी)	हि	= क्योंकि		

* भागवतमें भी यही क्रम है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग-मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

व्याख्या—‘महाबाहो’—‘महाबाहो’ सम्बोधनके दो अर्थ होते हैं—एक तो जिसकी भुजाएँ बड़ी और बलवान् हों अर्थात् जो शूरवीर हो; और दूसरा, जिसके मित्र तथा भाई बड़े पुरुष हों। अर्जुनके मित्र थे प्राणिमात्रके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण और भाई थे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर। इसलिये यह सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि कर्मयोगके अनुसार सबकी सेवा करनेका बल तुम्हारेमें है। अतः तुम सुगमतासे कर्मयोगका पालन कर सकते हो।

‘यो न द्वेष्टि’—कर्मयोगी वह होता है, जो किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, सिद्धान्त आदिसे द्वेष नहीं करता। कर्मयोगीका काम है सबकी सेवा करना, सबको सुख पहुँचाना। यदि उसका किसीके भी साथ किंचिन्मात्र भी द्वेष होगा तो उसके द्वारा कर्मयोगका आचरण सांगोपांग नहीं हो सकेगा। अतः जिससे कुछ भी द्वेष हो, उसकी सेवा कर्मयोगीको सर्वप्रथम करनी चाहिये।

सबसे पहले ‘न द्वेष्टि’ पद देनेका तात्पर्य यह है कि जो किसीको भी बुरा समझता है और किसीका भी बुरा चाहता है, वह कर्मयोगके तत्त्वको समझ ही नहीं सकता।

मार्मिक बात

प्राणिमात्रके हितके उद्देश्यसे कर्मयोगीके लिये बुराईका त्याग करना जितना आवश्यक है, उतना भलाई करना आवश्यक नहीं है। भलाई करनेसे केवल समाजका हित होता है; परन्तु बुराईरहित होनेसे विश्वमात्रका हित होता है। कारण यह है कि भलाई करनेमें सीमित क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता रहती है; परन्तु बुराईरहित होनेमें भीतरका असीम भाव प्रधान रहता है। यदि भीतरसे बुरा भाव दूर न हुआ हो और बाहरसे भलाई करें तो इससे अभिमान पैदा होगा, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है। भलाई करनेका अभिमान तभी पैदा होता है, जब भीतर कुछ-न-कुछ बुराई हो। जहाँ अपूर्णता (कमी) होती है, वहीं अभिमान पैदा होता है। परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ अभिमानका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

गहराईसे देखा जाय तो नाशवान् वस्तुओंकी सहायताके बिना भलाई नहीं की जा सकती। जिन वस्तुओंसे हम भलाई करते हैं, वे वस्तुएँ हमारी हैं ही नहीं; प्रत्युत उन्हींकी हैं, जिनकी हम भलाई करते हैं। फिर भी यदि भलाईका अभिमान होता है, तो यह नाशवान्का संग है। जबतक नाशवान्का संग है, तबतक ‘योग’की सिद्धि नहीं होती।

मैंने भलाई की—यह अभिमान बुराईसे भी अधिक भयंकर है; क्योंकि यह भाव मैं-पनमें बैठ जाता है। कर्म और फल तो मिट जाते हैं, पर जबतक मैं-पन रहता है, तबतक मैं-पनमें बैठा हुआ भलाईका अभिमान नहीं मिटता। दूसरी बात, बुराईको तो हम बुराईरूपसे जानते ही हैं, पर भलाईको बुराईरूपसे नहीं जानते। इसलिये भलाईके अभिमानका त्याग करना बहुत कठिन है; जैसे—लोहेकी हथकड़ीका तो त्याग कर सकते हैं; पर सोनेकी हथकड़ीका त्याग नहीं कर सकते; क्योंकि वह गहनारूपसे दीखती है। इसलिये बुराईरहित होकर ही भलाई करनी चाहिये। वास्तवमें बुराईका त्याग होनेपर विश्वमात्रकी भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पड़ती। इसलिये बुराईरहित महापुरुष अगर हिमालयकी एकान्त गुफामें भी बैठा हो, तो भी उसके द्वारा विश्वका बहुत हित होता है।

‘न काङ्क्षति’—कर्मयोगमें कामनाका त्याग मुख्य है। कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी कामना नहीं करता। कामना-त्याग और परहितमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। निष्काम होनेके लिये दूसरेका हित करना आवश्यक है। दूसरेका हित करनेसे कामनाके त्यागका बल आता है।

कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं, इसलिये कर्मोंकी अभिव्यक्ति कर्तासे ही होती है। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम-कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे ‘कर्मयोग’ कहें या ‘निष्काम-कर्म’—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। निष्काम होनेसे कर्ता कर्मफलसे असंग रहता है; परन्तु जब कर्तामें सकामभाव आ जाता है, तब वह कर्मफलसे बँध जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। सकामभाव तभी नष्ट होता है, जब कर्ता कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म दूसरोंके हितके लिये ही करता है। इसलिये कर्ताका भाव नित्य-निरन्तर निष्काम रहना चाहिये। कर्तामें जितना निष्कामभाव होगा, उतना ही कर्मयोगका सही आचरण होगा। कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है।

‘ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी’—अर्जुनने युद्ध न करके भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी इच्छा प्रकट की

थी—‘गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके’ (गीता २। ५) अर्थात् गुरुजनोंको न मारकर संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है। भगवान् उसी बातका उत्तर देते हुए मानो कह रहे हैं कि हे अर्जुन! वह संन्यास तो गुरुजनोंके मर जानेके भयसे किया जानेवाला बाहरी संन्यास है, पर कर्मयोगीका संन्यास राग-द्वेषके त्यागसे होनेवाला नित्य संन्यास अर्थात् भीतरी एवं सच्चा संन्यास है।

आगे छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने केवल अग्निका त्याग करनेवाले अर्थात् संन्यास-आश्रममात्र ग्रहण करनेवाले पुरुषको संन्यासी न कहकर भीतरसे संसारके आश्रयका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको ही संन्यासी कहा है। इस प्रकार भगवान्के मतमें कर्मयोगी ही वास्तविक संन्यासी है।

कर्म करते हुए भी कर्मोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखना ही संन्यास है। कर्मोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखनेवालेको कर्मोंका फल कभी किसी अवस्थामें किंचिन्मात्र भी नहीं मिलता—‘न तु संन्यासिनां क्वचित्’ (गीता १८। १२)। इसलिये शास्त्र-विहित समस्त कर्म करते हुए भी कर्मयोगी सदा संन्यासी ही है।

कर्मयोगका अनुष्ठान किये बिना सांख्ययोगका पालन करना कठिन है। इसलिये सांख्ययोगका साधक पहले कर्मयोगी होता है, फिर संन्यासी (सांख्ययोगी) होता है। परन्तु कर्मयोगके साधकके लिये सांख्ययोगका अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है। इसलिये कर्मयोगी आरम्भसे ही संन्यासी है।

जिसके राग-द्वेषका अभाव हो गया है, उसे संन्यास-आश्रममें जानेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति, वस्तु, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपनी नहीं है और अपने लिये भी नहीं है—ऐसा निश्चय होनेके बाद राग-द्वेष मिटकर ऐसा ही यथार्थ अनुभव हो जाता है, फिर व्यवहारमें संसारसे सम्बन्ध दीखनेपर भी भीतरसे (राग-द्वेष न रहनेसे) सम्बन्ध होता ही नहीं। यही ‘नित्यसंन्यास’ है। लौकिक अथवा पारलौकिक प्रत्येक कार्य करते समय कर्मयोगीका संसारसे सर्वथा संन्यास रहता है, इसलिये वह नित्यसंन्यासी ही समझनेयोग्य है।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् लिप्तताका अभाव ही संन्यास है और कर्मयोगीमें राग-द्वेष न रहनेसे संसारसे लिप्तता रहती ही नहीं। अतः कर्मयोगी नित्यसंन्यासी है।

‘निर्द्वन्द्वो हिसुखं बन्धात्प्रमुच्यते’*—साधनाके आरम्भमें साधकके अन्तःकरणमें द्वन्द्व रहता है। सत्संग, स्वाध्याय, विचार आदि करनेसे वह परमात्मप्राप्तिको अपना ध्येय तो मान लेता है, पर उसके अपने कहलानेवाले मन, इन्द्रियों आदिकी रुचि स्वाभाविक ही भोग भोगने तथा संग्रह करनेमें रहती है। इसलिये साधक कभी परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करना चाहता है और कभी भोग एवं संग्रहको। उसे जैसा संग मिलता है, उसीके अनुसार उसके भावोंमें परिवर्तन होता रहता है। ऐसा होनेपर भी वह भोगोंको शान्तिसे नहीं भोग सकता; क्योंकि सत्संग आदिके संस्कार उसके अन्तःकरणमें वैराग्य (भोगोंसे अरुचि) पैदा करते रहते हैं। इस प्रकार साधकके अन्तःकरणमें द्वन्द्व (भोग भोगूँ या साधन करूँ) चलता रहता है। इस द्वन्द्वपर ही अहंभाव टिका हुआ है। हमें सांसारिक भोग और संग्रहमें लगना ही नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर द्वन्द्व नहीं रहता और अहंभाव परमात्मतत्त्वमें लीन हो जाता है।

वास्तवमें संसारका महत्त्व अन्तःकरणमें अंकित हो जानेसे ही द्वन्द्व रहता है। भोग भोगते रहनेसे, दूसरोंसे सुख चाहते रहनेसे संसारके प्राणी-पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है। उनसे सुख लेनेसे वह महत्त्व बढ़ता जाता है, जिससे उनको प्राप्त करनेकी रुचि प्रबल हो जाती है। वह रुचि एक परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको स्थायी और दृढ़ नहीं होने देती। इससे साधकमें द्वन्द्व बना रहता है। उद्देश्यकी दृढ़ताके लिये साधकको यह पक्का विचार करना चाहिये कि कितना ही सुख, आराम, भोग क्यों न मिल जाय, मुझे उसे लेना ही नहीं है, प्रत्युत परहितके लिये उसका त्याग करना है। यह विचार जितना दृढ़ होगा, उतना ही साधक निर्द्वन्द्व होगा।

निर्द्वन्द्व होनेकी मुख्य बात इसी श्लोकमें ‘न द्वेष्टि न काङ्क्षति’ पदोंसे कही गयी है; जिसका तात्पर्य है—राग-द्वेषसे रहित होना। राग-द्वेषको मिटानेके लिये यह विचार

* गीतामें आये ‘कर्मबन्धं प्रहास्यसि’ (२। ३९); ‘त्रायते महतो भयात्’ (२। ४०); ‘जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते’ (२। ५०); ‘मोक्ष्यसेऽशुभात्’ (४। १६, १। १); ‘वृजिनं संतरिष्यसि’ (४। ३६); नाप्नुवन्ति दुःखालयमशाश्वतम्’ (८। १५); ‘शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः’ (९। २८); ‘मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि’ (१२। ७) आदि पद यहाँ आये ‘बन्धात् प्रमुच्यते’ पदोंके ही पर्यायवाची हैं।

करना चाहिये कि अपने न चाहनेपर भी अनुकूलता और प्रतिकूलता आती ही है अर्थात् अपने चाहनेपर अनुकूलता आती हो—ऐसी बात नहीं है और न चाहनेपर प्रतिकूलता न आती हो—ऐसी बात भी नहीं है। अनुकूलता-प्रतिकूलता तो प्रारब्धके फलस्वरूप आती-जाती रहती है, फिर इसके आने अथवा जानेकी चाहना क्यों करें? अनुकूलताके प्रति राग और प्रतिकूलताके प्रति द्वेष अपनी भूलसे होता है। इस प्रकार विचार करनेसे भूल मिटकर राग-द्वेष सर्वथा समाप्त हो जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपनी (स्वयंकी) सत्ता स्वतन्त्र है, किसी पदार्थ, व्यक्ति, क्रियाके अधीन नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें जब हम संसारको भूल जाते हैं, तब भी अपनी सत्ता बनी रहती है; जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें भी हम प्राणी, पदार्थके बिना रह सकते हैं। फिर (अपनी स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी) उनमें राग-द्वेष करके हम उनके अधीन क्यों बनें? इस प्रकार विचार करनेसे भी राग-द्वेष मिट जाते हैं।

संसारका राग उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। यह राग कभी स्थायी नहीं रहता; किन्तु हम नये-नये प्राणी, पदार्थोंमें राग करके इसे बनाये रखनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु परमात्माकी अभिलाषा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली नहीं है; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेके नाते जीवका परमात्मासे अखण्ड सम्बन्ध है। परमात्माकी अभिलाषा कभी घटती-बढ़ती भी नहीं। केवल संसारमें राग अधिक होनेपर वह

घटती हुई और राग कम होनेपर वह बढ़ती हुई दीखती है। इसलिये 'मैं सदा जीता रहूँ; मैं सब कुछ जान लूँ; मैं सदा सुखी रहूँ'—इस रूपमें सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी अभिलाषा जीवमात्रमें निरन्तर रहती है। जब संसारका राग मिट जाता है और एकमात्र परमात्माकी अभिलाषा रह जाती है, तब द्वन्द्व नहीं रहता।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योग-मार्गोंमें निर्द्वन्द्व होना बहुत आवश्यक है। जबतक द्वन्द्व है, तबतक मुक्ति नहीं होती (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें राग और द्वेष—ये दो शत्रु हैं (गीता—तीसरे अध्यायका चौतीसवाँ श्लोक)। निर्द्वन्द्व होनेसे ये दोनों मिट जाते हैं और इनके मिटनेसे सुखपूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारमें उलझनेके दो ही कारण हैं—राग और द्वेष। जितने भी साधन हैं, सब राग-द्वेषको मिटानेके लिये ही हैं*। राग-द्वेषके मिटनेपर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति स्वतःसिद्ध है। इसमें परिश्रम है ही नहीं। कारण कि परमात्म-तत्त्वकी अनुभूति असत्के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्के त्यागसे होती है। असत्की सत्ता राग-द्वेषपर ही टिकी हुई है। असत् संसार तो स्वतः ही मिट रहा है, पर अपनेमें राग-द्वेषको पकड़नेसे संसार स्थिर दीखता है। अतः जो संसार निरन्तर मिट रहा है, उसमें राग-द्वेष न रहनेसे मुक्ति नहीं होगी तो क्या होगा? इसलिये निर्द्वन्द्व अर्थात् राग-द्वेषसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—बाहरके सुख-दुःख (सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति)-में सम और भीतरके सुख-दुःखसे रहित होना 'निर्द्वन्द्व' अर्थात् द्वन्द्वरहित होना है।

तादात्म्यमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे 'जिज्ञासा' रहती है और जड़-अंशकी मुख्यतासे 'कामना' रहती है। मनुष्यमें भूख तो अविनाशी-तत्त्वकी रहती है, पर रुचि नाशवान्की रहती है; क्योंकि अविनाशीकी भूखको वह नाशवान्के द्वारा मिटाना चाहता है। भूख और रुचिका यह द्वन्द्व मनुष्यके संसार-बन्धनको दृढ़ करता है। जब मनुष्यका संसारमें राग-द्वेष नहीं रहता, तब उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और कामना मिट जाती है अर्थात् वह निर्द्वन्द्व हो जाता है।

सम्बन्ध—इस अध्यायके दूसरे श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंको परम कल्याण करनेवाले बताया। उसकी व्याख्या अब आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

* एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः । युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसंगस्तु कृत्स्नशः ॥

(श्रीमद्भा० ३।३२।२७)

'योगियोंके समस्त योग-साधनोंका एकमात्र अभीष्ट फल है—सम्पूर्ण संसारमें आसक्तिका अभाव हो जाना।'

बालाः	= बेसमझ लोग	न	= न कि	सम्यक्	= अच्छी तरहसे
साङ्ख्ययोगौ	= सांख्ययोग और कर्मयोगको	पण्डिताः	= पण्डितजन; (क्योंकि)	आस्थितः	= स्थित (मनुष्य)
पृथक्	= अलग-अलग (फलवाले)	एकम्	= (इन दोनोंमेंसे) एक साधनमें	उभयोः	= दोनोंके
प्रवदन्ति	= कहते हैं,	अपि	= भी	फलम्	= फलरूप (परमात्माको)
				विन्दते	= प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—‘साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः’—इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करनेके साधनको ‘कर्मसंन्यास’ नामसे कहा है। भगवान्ने भी दूसरे श्लोकमें अपने सिद्धान्तकी मुख्यता रखते हुए उसे ‘संन्यास’ और ‘कर्मसंन्यास’ नामसे कहा है। अब उस साधनको भगवान् यहाँ ‘सांख्य’ नामसे कहते हैं। भगवान् शरीर-शरीरीके भेदका विचार करके स्वरूपमें स्थित होनेको ‘सांख्य’ कहते हैं। भगवान्के मतमें ‘संन्यास’ और ‘सांख्य’ पर्यायवाची हैं, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जिसे ‘कर्मसंन्यास’ नामसे कह रहे हैं, वह भी निःसन्देह भगवान्के द्वारा कहे ‘सांख्य’ का ही एक अवान्तर भेद है। कारण कि गुरुसे सुनकर भी साधक शरीर-शरीरीके भेदका ही विचार करता है।

‘बालाः’ पदसे भगवान् यह कहते हैं कि आयु और बुद्धिमें बड़े होकर भी जो सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले मानते हैं, वे बालक अर्थात् बेसमझ ही हैं।

परिशिष्ट भाव—जो अन्य शास्त्रीय बातोंको तो जानता है, पर सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वको गहराईसे नहीं जानता, वह वास्तवमें बालक अर्थात् बेसमझ है।

गीताभरमें अविनाशी तत्त्वके लिये ‘फल’ शब्द इसी श्लोकमें आया है। ‘फल’ शब्दका अर्थ है—परिणाम। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त होनेवाले तत्त्वको ‘फल’ कहनेका तात्पर्य है कि इन दोनों साधनोंमें मनुष्यका अपना उद्योग मुख्य है। ज्ञानयोगमें विवेकरूप उद्योग मुख्य है और कर्मयोगमें परहितकी क्रियारूप उद्योग मुख्य है। साधकका अपना उद्योग, परिश्रम सफल हो गया, इसलिये इसको ‘फल’ कहा गया है। यह फल नष्ट होनेवाला नहीं है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका फल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है।

कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है और कुछ न करना ज्ञानयोग है। कुछ न करनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्तव्य-कर्म करनेसे हो जाती है। ‘करना’ और ‘न करना’ तो साधन हैं और इनसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, वह साध्य है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जिन महापुरुषोंने सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वकी ठीक-ठीक समझा है, वे ही पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् हैं। वे लोग दोनोंको अलग-अलग फलवाले नहीं कहते; क्योंकि वे दोनों साधनोंकी प्रणालियोंको न देखकर उन दोनोंके वास्तविक परिणामको देखते हैं।

साधन-प्रणालीको देखते हुए स्वयं भगवान्ने तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें सांख्ययोग और कर्मयोगको दो प्रकारका साधन स्वीकार किया है। दोनोंकी साधन-प्रणाली तो अलग-अलग है, पर साध्य अलग-अलग नहीं है।

‘एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्’—गीतामें जगह-जगह सांख्ययोग और कर्मयोगका परमात्मप्राप्तिरूप फल एक ही बताया गया है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें दोनों साधनोंसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव होना बताया गया है। तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें कर्मयोगीके लिये परमात्माकी प्राप्ति बतायी गयी है और बारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें ज्ञानयोगीके लिये परमात्माकी प्राप्ति बतायी गयी है। इस प्रकार भगवान्के मतमें दोनों साधन एक ही फलवाले हैं।

साङ्ख्यैः	= सांख्ययोगियोंके द्वारा	अपि	= भी	च	= और
यत्	= जो	तत्	= वही	योगम्	= कर्मयोगको (फलरूपमें)
स्थानम्	= तत्त्व	गम्यते	= प्राप्त किया जाता है। (अतः)	एकम्	= एक
प्राप्यते	= प्राप्त किया जाता है,	यः	= जो मनुष्य	पश्यति	= देखता है,
योगैः	= कर्मयोगियोंके	साङ्ख्यम्	= सांख्ययोग	सः, च	= वही (ठीक)
				पश्यति	= देखता है।

व्याख्या—‘यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते’—पूर्वश्लोकके उत्तरार्धमें भगवान्ने कहा था कि एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित होकर मनुष्य दोनों साधनोंके फलरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। उसी बातकी पुष्टि भगवान् उपर्युक्त पदोंमें दूसरे ढंगसे कर रहे हैं कि जो तत्त्व सांख्ययोगी प्राप्त करते हैं, वही तत्त्व कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं।

संसारमें जो यह मान्यता है कि कर्मयोगसे कल्याण नहीं होता, कल्याण तो ज्ञानयोगसे ही होता है—इस मान्यताको दूर करनेके लिये यहाँ ‘अपि’ अव्ययका प्रयोग किया गया है।

सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनोंका ही अन्तमें कर्मोंसे अर्थात् क्रियाशील प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर दोनों ही योग एक हो जाते हैं। साधनकालमें भी सांख्ययोगका विवेक (जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद) कर्मयोगीको अपना पड़ता है और कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कर्म न करनेकी पद्धति) सांख्ययोगीको अपनी पड़ती है। सांख्ययोगका विवेक प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये होता है और कर्मयोगका कर्म संसारकी सेवाके लिये होता है। सिद्ध होनेपर सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनोंकी एक स्थिति होती है; क्योंकि दोनों ही साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक)।

संसार विषम है। घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सांसारिक सम्बन्धमें भी विषमता रहती है। परन्तु परमात्मा सम हैं। अतः समरूप परमात्माकी प्राप्ति संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होती है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये दो योगमार्ग हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। मेरे सत्-स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता, जबकि कामना-आसक्ति अभावमें ही पैदा होती है—ऐसा समझकर असंग हो जाय—यह ज्ञानयोग है। जिन वस्तुओंमें साधकका राग

है, उन वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें खर्च कर दे और जिन व्यक्तियोंमें राग है, उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा कर दे—यह कर्मयोग है। इस प्रकार ज्ञानयोगमें विवेक-विचारके द्वारा और कर्मयोगमें सेवाके द्वारा संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

‘एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति’—पूर्वश्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने व्यतिरेक रीतिसे कहा था कि सांख्ययोग और कर्मयोगको बेसमझ लोग ही अलग-अलग फल देनेवाले कहते हैं। उसी बातको अब अन्वय रीतिसे कहते हैं कि जो मनुष्य इन दोनों साधनोंको फलदृष्टिसे एक देखता है, वही यथार्थरूपमें देखता है।

इस प्रकार चौथे और पाँचवें श्लोकका सार यह है कि भगवान् सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको स्वतन्त्र साधन मानते हैं और दोनोंका फल एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मानते हैं। इस वास्तविकताको न जाननेवाले मनुष्यको भगवान् बेसमझ कहते हैं और इसे जाननेवालेको भगवान् यथार्थ जाननेवाला (बुद्धिमान्) कहते हैं।

विशेष बात

किसी भी साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं।

जो निरन्तर मर रहा है अर्थात् जिसका निरन्तर अभाव हो रहा है; उस शरीरमें मरनेका भय नहीं हो सकता; और जो नित्य-निरन्तर रहता है, उस स्वरूपमें जीनेकी इच्छा नहीं हो सकती तो फिर जीनेकी इच्छा और मरनेका भय किसे होता है? जब स्वरूप शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब उसमें जीनेकी इच्छा और मरनेका भय उत्पन्न हो जाता है। जीनेकी इच्छा और मरनेका भय—ये दोनों ‘ज्ञानयोग’ से (विवेकद्वारा) मिट जाते हैं।

पानेकी इच्छा उसमें होती है, जिसमें कोई अभाव होता है। अपना स्वरूप भावरूप है, उसमें कभी अभाव नहीं हो

सकता, इसलिये स्वरूपमें कभी पानेकी इच्छा नहीं होती। पानेकी इच्छा न होनेसे उसमें कभी करनेका राग उत्पन्न नहीं होता। स्वयं भावरूप होते हुए भी जब स्वरूप अभावरूप शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव प्रतीत होने लग जाता है, जिससे उसमें पानेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और पानेकी इच्छासे

करनेका राग उत्पन्न हो जाता है। पानेकी इच्छा और करनेका राग—ये दोनों 'कर्मयोग'से मिट जाते हैं।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमेंसे किसी एक साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन लौकिक होनेसे एक ही हैं। सांख्ययोगमें साधक चिन्मयतामें स्थित होता है और चिन्मयतामें स्थित होनेपर जड़ताका त्याग हो जाता है। कर्मयोगमें साधक जड़ताका त्याग करता है और जड़ताका त्याग होनेपर चिन्मयतामें स्थिति हो जाती है। इस प्रकार सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंके परिणाममें चिन्मयताकी प्राप्ति अर्थात् चिन्मय स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा देना कर्मयोग है और शरीरसे स्वयं अलग हो जाना ज्ञानयोग है। चाहे शरीरको संसारकी सेवामें लगा दें, चाहे शरीरसे स्वयं अलग हो जायँ—दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् दोनों ही साधनोंसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

यहाँ चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धके साथ है और पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध चौथे श्लोकके उत्तरार्धके साथ है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है (चौथे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय, (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

परन्तु यहाँ भगवान् ज्ञानयोगकी तरह कर्मयोगको भी परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं। उपर्युक्त चौथे-पाँचवें श्लोकोंके सिवाय गीतामें अनेक जगह कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेकी बात आयी है; जैसे—'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८), 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति' (५।६), 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४।२३), 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' (४।१९), 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' (५।१२)।

श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव। न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११।२०।१०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः। ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११।२०।११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति)-को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति)-की प्राप्ति भी हो सकती है।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने संन्यास-(सांख्ययोग-) की अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। अब उसी बातको दूसरे प्रकारसे कहते हैं।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

तु	= परन्तु	आप्तुम्	= सिद्ध होना	नचिरेण	= शीघ्र ही
महाबाहो	= हे महाबाहो!	दुःखम्	= कठिन है।	ब्रह्म	= ब्रह्मको
अयोगतः	= कर्मयोगके बिना	मुनिः	= मननशील	अधिगच्छति	= प्राप्त हो
संन्यासः*	= सांख्ययोग	योगयुक्तः	= कर्मयोगी		जाता है।

व्याख्या—‘संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः’—सांख्ययोगकी सफलताके लिये कर्मयोगका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना सांख्ययोगकी सिद्धि कठिनतासे होती है। परन्तु कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सांख्ययोगका साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है। यही भाव यहाँ ‘तु’ पदसे प्रकट किया गया है।

सांख्ययोगीका लक्ष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव करना होता है। परन्तु राग रहते हुए इस साधनके द्वारा परमात्मतत्त्वके अनुभवकी तो बात ही क्या है, इस साधनका समझमें आना भी कठिन है!

राग मिटानेका सुगम उपाय है—कर्मयोगका अनुष्ठान करना। कर्मयोगमें प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही की जाती है। दूसरोंके हितका भाव होनेसे अपना राग स्वतः मिटता है। इसलिये कर्मयोगके आचरणद्वारा राग मिटाकर सांख्ययोगका साधन करना सुगम पड़ता है। कर्मयोगका साधन किये बिना सांख्ययोगका सिद्ध होना कठिन है।

‘योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति’—अपने निष्कामभावका और दूसरोंके हितका मनन करनेवाले कर्मयोगीको यहाँ ‘मुनिः’ कहा गया है।

कर्मयोगी छोटी या बड़ी प्रत्येक क्रियाको करते समय यह देखता रहता है कि मेरा भाव निष्काम है या सकाम? सकामभाव आते ही वह उसे मिटा देता है; क्योंकि सकामभाव आते ही वह क्रिया अपनी और अपने लिये हो जाती है।

दूसरोंका हित कैसे हो? इस प्रकार मनन करनेसे रागका त्याग सुगमतासे होता है।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् कर्मयोगकी विशेषता बता रहे हैं कि कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें विलम्बका कारण है—संसारका राग। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करते रहनेसे कर्मयोगीके रागका सर्वथा अभाव हो जाता है और रागका सर्वथा अभाव होनेपर स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। इसी आशयको भगवान्ने चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें ‘तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति’ पदोंसे बताया है कि योगसंसिद्ध होते ही अपने-आप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अवश्यमेव हो जाती है। इस साधनमें अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है। इसकी सिद्धिमें कठिनाई और विलम्ब भी नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि देहधारी—देहाभिमानी मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता, पर जो कर्मफलका त्यागी है, वह त्यागी कहलाता है (अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि देहधारी कर्मोंका त्याग तो नहीं कर सकता, पर कर्मफलका—फलेच्छाका त्याग तो कर ही सकता है। इसलिये कर्मयोगमें सुगमता है।

कर्मयोगकी महिमामें भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगीको तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जाती है—‘त्यागाच्छान्ति-रनन्तरम्’ (गीता १२। १२)। वह संसारबन्धनसे

* यद्यपि यहाँ ‘संन्यास’ पद ‘आप्तुम्’ क्रियाका कर्म होनेसे उसमें द्वितीया होनी चाहिये, तथापि ‘तु’ पदको निपात संज्ञा मानकर उससे कर्म उक्त होनेसे ‘संन्यास’ पदमें प्रथमा हुई है।

सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है—‘सुखं बन्धात्प्रमुच्यते’ सिद्धिदायक और किसी अन्य साधनके बिना परमात्मप्राप्ति (गीता ५।३)। अतः कर्मयोगका साधन सुगम, शीघ्र करानेवाला स्वतन्त्र साधन है।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगीके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जितेन्द्रियः	= जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं,	(और)	योगयुक्तः	= कर्मयोगी	
विशुद्धात्मा	= जिसका अन्तः-करण निर्मल है,	सर्वभूतात्म-भूतात्मा	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, (ऐसा)	कुर्वन्	= (कर्म) करते हुए
विजितात्मा	= जिसका शरीर अपने वशमें है			अपि	= भी
				न, लिप्यते	= लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—‘जितेन्द्रियः’—इन्द्रियाँ वशमें होनेका तात्पर्य है—इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना। राग-द्वेषसे रहित होनेपर इन्द्रियोंमें मनको विचलित करनेकी शक्ति नहीं रहती^१। साधक उनको अपने मनके अनुकूल चाहे जहाँ लगा सकता है।

कर्मयोगके साधकके लिये इन्द्रियोंका वशमें होना आवश्यक है। इसीलिये भगवान् कर्मयोगके प्रकरणमें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे कहते हैं; जैसे—‘यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य’ (३।७); ‘तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य’ (३।४१)। कर्मयोगीका कर्मोंके साथ अधिक सम्बन्ध रहता है; इसलिये इन्द्रियाँ वशमें न होनेसे उसके विचलित होनेकी सम्भावना रहती है। कर्मयोगके साधनमें दूसरोंके हितके लिये सेवारूपसे कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है, जिसके लिये इन्द्रियोंका वशमें होना बहुत जरूरी है। इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना कर्मयोगका साधन होना कठिन है।

‘विशुद्धात्मा’—अन्तःकरणकी मलिनतामें हेतु है—सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व। जहाँ पदार्थोंका महत्त्व रहता है, वहीं उनकी कामनाएँ रहती हैं। साधक निष्काम तभी होता है, जब उसके अन्तःकरणमें सांसारिक पदार्थोंका

महत्त्व नहीं रहता। जबतक पदार्थोंका महत्त्व है, तबतक वह निष्काम नहीं हो सकता।

एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे अन्तःकरणकी जितनी जल्दी और जैसी शुद्धि होती है, उतनी जल्दी और वैसी शुद्धि दूसरे किसी अनुष्ठानसे नहीं होती। इसलिये कर्मयोगमें एक उद्देश्य होनेकी जितनी महिमा है, उतनी किसीकी नहीं।

‘विजितात्मा’—कर्मयोगमें शरीरके सुख-आरामका त्याग करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अगर शरीरसे आलस्य-प्रमाद होगा, तो कर्मयोगका अनुष्ठान नहीं हो पायेगा। अतः यहाँ भगवान्ने शरीरको वशमें करनेकी बात कही है।

‘सर्वभूतात्मभूतात्मा’—कर्मयोगीको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है^२। जैसे शरीरके किसी एक अंगमें चोट लगनेसे दूसरा अंग उसकी सेवा करनेके लिये सहजभावसे, किसी अभिमानके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः लग जाता है, ऐसे ही कर्मयोगीके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा सहजभावसे, किसी अभिमान या कामनाके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः होती है। वह सेवा करनेके लिये किसी भी

१-श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः । न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

(मनुस्मृति २।१८)

‘जो पुरुष सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिये।’

२-चाहे अपने शरीरसे असंग हो जायँ, चाहे अपने शरीर-जैसे सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंसे एकता मान लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा। ज्ञानयोगी अपने शरीरसे असंग होता है और कर्मयोगी सब शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानता है। एकता माननेसे वह उदार हो जाता है।

प्राणीको अपनेसे अलग नहीं समझता, सबको अपने ही अंग मानता है।

जैसे अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न अवयवोंसे भिन्न-भिन्न व्यवहार होनेपर भी सब अवयवोंके साथ अपनापन समान (एक ही) रहता है, ऐसे ही कर्मयोगीके द्वारा मर्यादाके अनुसार संसारमें यथायोग्य भिन्न-भिन्न व्यवहार होनेपर भी सबके साथ अपनापन समान रहता है।

अपना राग मिटानेके लिये 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होना अर्थात् सब प्राणियोंके साथ अपनी एकता मानना बहुत आवश्यक है। कर्मयोगीका स्वभाव है—उदारता। सर्वभूतात्मभूतात्मा हुए बिना उदारता नहीं आती।

विशेष बात

क्रिया और पदार्थके साथ हम निरन्तर नहीं रह सकते और वे हमारे साथ निरन्तर नहीं रह सकते। कारण यह है कि क्रिया और पदार्थमें निरन्तर परिवर्तन होता है, पर हमारेमें (स्वरूपसे) कभी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये क्रिया और पदार्थ निरन्तर हमारा त्याग कर रहे हैं। हम भी इनका त्याग करके ही मुक्ति पा सकते हैं, परमशान्ति पा सकते हैं। इनके साथ रहकर हम मुक्ति, परमशान्ति नहीं पा सकते; क्योंकि इनके साथ रहनेका हमारा स्वभाव नहीं है और हमारे साथ रहनेका इनका स्वभाव नहीं है। इसलिये क्रिया और पदार्थको दूसरोंकी सेवामें लगाना है। दूसरोंकी सेवामें लगाना हमारी महत्ता नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। जो वास्तविकता होती है, वह सहज होती है अर्थात् उसमें परिश्रम और अभिमान नहीं होता। अवास्तविकतामें ही परिश्रम और अभिमान होता है।

क्रिया और पदार्थ दूसरोंकी सेवामें तभी लग सकते हैं, जब हमारेमें 'उदारता' आ जाय। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि उदारता हमारा स्वरूप है*। इसलिये उदारतामें न तो धन खर्च करनेकी आवश्यकता है और न परिश्रम करनेकी आवश्यकता है। आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि हम सुखीको देखकर प्रसन्न हो जायँ और दुःखीको देखकर करुणित, दयालु हो जायँ। हृदयमें यह करुणा पैदा हो जाय कि यह सुखी कैसे हो? सुखीको

देखकर ऐसा भाव हो जाय कि सभी सुखी हो जायँ और दुःखीको देखकर ऐसा भाव हो जाय कि कोई दुःखी न रहे।

भगवान्ने भोग और संग्रहको साधनमें बाधक बताया है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। सुखीको देखकर प्रसन्न होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा मिट जाती है; क्योंकि भोग भोगनेमें जो सुख मिलता है, वह सुख हमें दूसरोंको सुखी देखकर विशेषतासे मिल जायगा तो हमें भोग भोगनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। दुःखीको देखकर दुःखी होनेसे संग्रह करनेकी इच्छा मिट जाती है; क्योंकि अपना दुःख मिटानेके लिये जिन वस्तुओंका हम संग्रह करते हैं और व्यय करते हैं, वे स्वतः दूसरोंका दुःख दूर करनेमें लग जायँगी। जैसे अपनेपर कोई दुःख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसे ही दूसरोंको दुःखी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होने लगेगी।

प्रसन्नता और करुणामें एक विलक्षण रस है। वह रस क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवको परमात्मस्वरूप नित्य रसके साथ अभिन्न करा देता है।

'योगयुक्तः'—जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, विजितात्मा और सर्वभूतात्मभूतात्मा—इन चार पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त जो कर्मयोगी है, उसे ही यहाँ 'योगयुक्तः' कहा गया है।

साधनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति न होनेमें कारण है—उद्देश्य और रुचिमें भिन्नता। जबतक अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व है, तबतक उद्देश्य और रुचिका संघर्ष प्रायः मिटता नहीं। उद्देश्य अविनाशी परमात्माका होता है और रुचि प्रायः नाशवान् संसारके प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी होती है। उद्देश्य और रुचि अभिन्न हो जानेपर साधन स्वतः तेजीसे होने लगता है। यहाँ 'योगयुक्तः' पद ऐसे कर्मयोगीके लिये आया है, जिसका उद्देश्य और रुचि अभिन्न हो गयी है अर्थात् उद्देश्य और रुचि—दोनों एक परमात्मामें ही हो गये हैं।

उत्पन्न और नष्ट होनेवाला फल किंचिन्मात्र भी न चाहें, तभी कर्मयोग होता है। फल और उद्देश्य दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं। कर्मयोगीमें फलकी इच्छा तो नहीं होती, पर उद्देश्य

* उदारता गुण भी है और अपना स्वरूप भी। हमारे पास जो पदार्थ हैं, वे दूसरोंकी सेवामें लग जायँ—इस भावसे उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगाया जाय, यह उदारता 'गुण' है। हमारे पास जो पदार्थ हैं, वे हमारे हैं ही नहीं—ऐसा समझकर उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगाया जाय, यह उदारता हमारा 'स्वरूप' है; क्योंकि इसमें पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

अवश्य होता है। कर्मयोगीका उद्देश्य वही होता है, जो सबको मिल सकता है और सदा साथ रहता है। जो किसीको मिलता है, किसीको नहीं मिलता और कभी रहता है, कभी नहीं रहता, वह उसका उद्देश्य नहीं होता है। इस दृष्टिसे उद्देश्य सदा परमात्मतत्त्वका ही होता है। परमात्मतत्त्व किसी कर्म, अभ्यास आदिका फल नहीं है। फल उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है, पर परमात्मा नित्य रहते हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको कर्मयोगी चाहता ही नहीं; क्योंकि उसकी चाहना ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। एकमात्र परमात्माका ही उद्देश्य होनेसे कर्मयोगीको 'योगयुक्त' कहा गया है।

यहाँ जिसे 'योगयुक्तः' कहा गया है, उसे ही छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'योगारूढः' कहा गया है।

'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्मोंके बन्धनमें हेतु हैं—कर्मोंके प्रति ममता, कर्मोंके फलकी इच्छा, कर्मजन्य सुखकी इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान*। सारांशमें कर्मोंसे कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा ही बन्धनमें कारण है। किंचिन्मात्र भी पानेकी इच्छा न होनेके कारण कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उनसे बँधता नहीं अर्थात् उसके कर्म अकर्म हो जाते हैं।

सांख्ययोगी तो 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३।२८) 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर कर्मोंसे नहीं

परिशिष्ट भाव—शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, तब कर्म करते हुए भी उसमें कर्तापन नहीं रहता। कर्तापन न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

बँधता, पर कर्मयोगी परहितके लिये कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता। केवल दूसरोंके लिये कर्म किये जानेसे उसके कर्म भी 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' की तरह ही हो जाते हैं।

यहाँ 'अपि' पदमें एक भाव यह भी है कि कर्मयोगी कर्म करते समय तो निर्लिप्त है ही, कर्म न करते समय भी वह निर्लिप्त है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। उसका कर्म करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। वह सदा ही निर्लिप्त रहता है।

तात्पर्य है कि सांख्ययोगी जडताका त्याग करके चिन्मयताके साथ अपनी एकता मानता है और कर्मयोगी अपने कहलानेवाले शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदिकी संसारके साथ एकता मानता है अर्थात् पदार्थ, शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदिकी और उनकी क्रियाओंको अपनी नहीं मानता; किन्तु उनको संसारकी और संसारके लिये ही मानता है। कर्मयोगी जब पदार्थ, मन, बुद्धि आदिकी और उनकी क्रियाओंको केवल संसारकी ही मानता है, तो फिर उनके द्वारा किसीका हित हो गया, किसीको सुख पहुँचा, किसीका उपकार हो गया तो वह 'मैंने किया' 'मेरे द्वारा ऐसा हुआ'—ऐसा कैसे मान सकता है? नहीं मान सकता। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी कर्ता नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

सम्बन्ध—कर्मोंके होनेके विषयमें कर्मयोगीकी बात कहकर अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें सांख्ययोगके साधनकी बात कहते हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशज्जिघ्रन्श्ननाच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजनृहन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्ववित्	= तत्त्वको जाननेवाला	युक्तः	= सांख्ययोगी	शृण्वन्	= सुनता हुआ,
		पश्यन्	= देखता हुआ,	स्पृशन्	= छूता हुआ,

* दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगके स्वरूपका विवेचन करते हुए भगवान्ने 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' पदोंसे कर्मोंके प्रति ममता, कर्मजन्य सुखकी इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान मिटानेके लिये कहा है तथा 'मा फलेषु कदाचन' पदोंसे कर्मोंके फलकी इच्छा मिटानेके लिये कहा है।

जिघ्रन्	= सूँघता हुआ,	श्वसन्	= श्वास लेता हुआ (तथा)	वर्तन्ते	= बरत रही हैं'—
अश्नन्	= खाता हुआ,	उन्मिषन्	= आँख खोलता हुआ (और)	इति	= ऐसा
गच्छन्	= चलता हुआ	निमिषन्	= मूँदता हुआ	धारयन्	= समझकर
गृह्णन्	= ग्रहण करता हुआ,	अपि	= भी	किञ्चित्	= '(मैं स्वयं)कुछ
प्रलपन्	= बोलता हुआ,	इन्द्रियाणि	= 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ	एव	= भी
विसृजन्	= (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ,	इन्द्रियार्थेषु	= इन्द्रियोंके विषयोंमें	न	= नहीं
स्वपन्	= सोता हुआ,			करोमि	= करता हूँ'—
				इति	= ऐसा
				मन्येत	= माने।

व्याख्या—'तत्त्ववित् युक्तः'—यहाँ ये पद सांख्य-योगके विवेकशील साधकके वाचक हैं, जो तत्त्ववित् महापुरुषकी तरह निर्भ्रान्त अनुभव करनेके लिये तत्पर रहता है। उसमें ऐसा विवेक जाग्रत् हो गया है कि सब क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं, उन क्रियाओंका मेरे साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

जो अपनेमें अर्थात् स्वरूपमें कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी क्रियाके कर्तापनको नहीं देखता, वह 'तत्त्ववित्' है। उसमें नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही यह सावधानी रहती है कि स्वरूपमें कर्तापन है ही नहीं। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिके साथ वह कभी भी अपनी एकता स्वीकार नहीं करता, इसलिये इनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको वह अपनी क्रियाएँ मान ही कैसे सकता है?

वास्तवमें उपर्युक्त स्थिति स्वरूपसे सभी मनुष्योंकी है; परन्तु वे भूलसे स्वरूपको क्रियाओंका कर्ता मान लेते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। परमात्माकी जिस शक्तिसे समष्टि संसारकी क्रियाएँ हो रही हैं, उसी शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी क्रियाएँ भी हो रही हैं। परन्तु समष्टिके ही क्षुद्र अंश व्यष्टिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण मनुष्य व्यष्टिकी कुछ क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ मानने लग जाता है। इस मान्यताको हटानेके लिये ही भगवान् कहते हैं कि साधक अपनेको कभी कर्ता न माने। जबतक किसी भी अंशमें कर्तापनकी मान्यता है, तबतक वह साधक कहा जाता है। जब अपनेमें कर्तापनकी मान्यताका सर्वथा अभाव होकर अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, तब वह तत्त्ववित् महापुरुष कहा जाता है। जैसे स्वप्नसे जगनेपर मनुष्यका स्वप्नसे बिलकुल सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही तत्त्ववित् महापुरुषका शरीरादिसे होनेवाली

क्रियाओंसे बिलकुल सम्बन्ध (कर्तापन) नहीं रहता।

यहाँ 'तत्त्ववित्' वही है, जो प्रकृति और पुरुषके विभागको अर्थात् गुण और क्रिया सब प्रकृतिमें है, प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें गुण और क्रिया नहीं है—इसको ठीक-ठीक जानता है। प्रकृतिसे अतीत निर्विकार तत्त्व तो सबका प्रकाशक और आधार है। सबका प्रकाशक होता हुआ भी वह प्रकाशके अन्तर्गत ओत-प्रोत है। प्रकाश (शरीर आदि) में घुला-मिला रहनेपर भी प्रकाशक प्रकाशक ही है और प्रकाश प्रकाश ही है। ऐसे ही वह सबका आधार होता हुआ भी सबके (आधेयके) कण-कणमें व्याप्त है; पर वह कभी आधेय नहीं होता। कारण कि जो प्रकाशक और आधार है, उसमें करना और होना नहीं है। करना और होनारूप परिवर्तन तो प्रकाश अथवा आधेयमें ही है। इस तरह प्रकाशक और प्रकाश आधार और आधेयके भेद-(विभाग-) को जो ठीक तरहसे जानता है, वही 'तत्त्ववित्' है। इसी प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष-(क्षेत्रज्ञ-) के विभागको जाननेकी बात भगवान्ने पहले दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें और आगे सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें तथा तेरहवें अध्यायके दूसरे, उन्नीसवें, तेईसवें और चौतीसवें श्लोकमें कही है।

'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशन् उन्मिषन्निमिषन्नपि'— यहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और खाना—ये पाँचों क्रियाएँ (क्रमशः नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना—इन पाँच) ज्ञानेन्द्रियोंकी हैं। चलना, ग्रहण करना, बोलना और मल-मूत्रका त्याग करना—ये चारों क्रियाएँ (क्रमशः पाद, हस्त, वाक्, उपस्थ और गुदा—इन पाँच) कर्मेन्द्रियोंकी हैं*। सोना—यह एक क्रिया अन्तःकरणकी है। श्वास लेना—यह एक क्रिया प्राणकी और आँखें खोलना

* यहाँ पाँचों कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंका वर्णन चार क्रियाओंके अन्तर्गत किया गया है अर्थात् 'विसृजन्' क्रियाके अन्तर्गत ही उपस्थ और गुदाकी क्रियाओंका वर्णन किया गया है।

तथा मूँदना—ये दो क्रियाएँ ‘कूर्म’ नामक उपप्राणकी हैं।

उपर्युक्त तेरह क्रियाएँ देकर भगवान्ने ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण और उपप्राणसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंका उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिके द्वारा ही होती हैं, स्वयंके द्वारा नहीं। दूसरा एक भाव यह भी प्रतीत होता है कि सांख्ययोगीके द्वारा वर्ण, आश्रम, स्वभाव, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रविहित शरीर-निर्वाहकी क्रियाएँ, खान-पान, व्यापार करना, उपदेश देना, लिखना, पढ़ना, सुनना, सोचना आदि क्रियाएँ न होती हों—ऐसी बात नहीं है। उसके द्वारा ये सब क्रियाएँ हो सकती हैं।

मनुष्य अपनेको उन्हीं क्रियाओंका कर्ता मानता है, जिनको वह जानकर अर्थात् मन-बुद्धिपूर्वक करता है; जैसे पढ़ना, लिखना, सोचना, देखना, भोजन करना आदि। परन्तु अनेक क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें मनुष्य जानकर नहीं करता; जैसे—श्वासका आना-जाना, आँखोंका खुलना और बंद होना आदि। फिर इन क्रियाओंका कर्ता अपनेको न माननेकी बात इस श्लोकमें कैसे कही गयी? इसका उत्तर यह है कि सामान्यरूपसे श्वासोंका आना-जाना आदि क्रियाएँ स्वाभाविक होनेवाली हैं; किन्तु प्राणायाम आदिमें मनुष्य श्वास लेना आदि क्रियाएँ जानकर करता है। ऐसे ही आँखोंको खोलना और बंद करना भी जानकर किया जा सकता है। इसलिये इन क्रियाओंका कर्ता भी अपनेको न माननेके लिये कहा गया है। दूसरी बात, जैसे मनुष्य ‘श्वासन् उन्मिषन् निमिषन्’ (श्वास लेना, आँखोंको खोलना और मूँदना)—इन क्रियाओंको स्वाभाविक मानकर इनमें अपना कर्तापन नहीं मानता, ऐसे ही अन्य क्रियाओंको भी स्वाभाविक मानकर उनमें अपना कर्तापन नहीं मानना चाहिये।

यहाँ ‘पश्यन्’ आदि जो तेरह क्रियाएँ बतायी हैं, इनका बिना किसी आधारके होना सम्भव नहीं है। ये क्रियाएँ जिसके आश्रित होती हैं अर्थात् इन क्रियाओंका जो आधार है, उसमें कभी कोई क्रिया नहीं होती। ऐसे ही प्रकाशित होनेवाली ये सम्पूर्ण क्रियाएँ बिना किसी प्रकाशके सिद्ध नहीं हो सकतीं। जिस प्रकाशसे ये क्रियाएँ प्रकाशित होती हैं, जिस प्रकाशके अन्तर्गत होती हैं, उस प्रकाशमें कभी कोई क्रिया हुई नहीं, होती नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं और होनी सम्भव भी नहीं। ऐसा वह तत्त्व सबका आधार, प्रकाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप

है। वह सबमें रहता हुआ भी कुछ नहीं करता। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करानेमें ही उपर्युक्त इन तेरह क्रियाओंका तात्पर्य है।

‘इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्’—जब स्वरूपमें कर्तापन है ही नहीं, तब क्रियाएँ कैसे और किसके द्वारा हो रही हैं?—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् उपर्युक्त पदोंमें कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें ही हो रही हैं। यहाँ भगवान्का तात्पर्य इन्द्रियोंमें कर्तृत्व बतानेमें नहीं है, प्रत्युत स्वरूपको कर्तृत्वरहित (निर्लिप्त) बतानेमें है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, उपप्राण आदि सबको यहाँ ‘इन्द्रियाणि’ पदके अन्तर्गत लिया गया है। इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन विषयोंमें ही इन्द्रियोंका बर्ताव होता है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय प्रकृतिका कार्य हैं। इसलिये इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं—

(१) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

(गीता ३। २७)

(२) प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

(गीता १३। २९)

गुणोंका कार्य होनेसे इन्द्रियों और उनके विषयोंको ‘गुण’ ही कहा जाता है। अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—‘गुणा गुणेषु वर्तन्ते’ (गीता ३। २८)। गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है—‘नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति’ (गीता १४। १९)। तात्पर्य यह है कि क्रियामात्रको चाहे प्रकृतिसे होनेवाली कहें, चाहे प्रकृतिके कार्य गुणोंके द्वारा होनेवाली कहें, चाहे इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली कहें, बात वास्तवमें एक ही है।

क्रियाका तात्पर्य है—परिवर्तन। परिवर्तनरूप क्रिया प्रकृतिमें ही होती है। स्वरूपमें परिवर्तनरूप क्रिया लेशमात्र भी नहीं है। कारण कि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है और स्वरूप कर्तापनसे रहित है। प्रकृति कभी अक्रिय नहीं हो सकती और स्वरूपमें कभी क्रिया नहीं हो सकती। क्रियामात्र प्रकाश्य है और स्वरूप प्रकाशक है।

‘नैव किञ्चित्करोमीति मन्येत’—यहाँ ‘मैं’ (स्वरूपसे) कर्ता नहीं हूँ—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं (स्वरूप) पहले कर्ता था। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतमें था और न भविष्यमें ही होगा।

क्रियामात्र प्रकृतिमें ही हो रही है; क्योंकि प्रकृति सदा क्रियाशील है और पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्व सदा क्रियारहित है। जब चेतन अनादि भूलसे प्रकृतिके कार्यके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह प्रकृतिकी क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ मानने लग जाता है और उन क्रियाओंका कर्ता स्वयं बन जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

जैसे, एक मनुष्य चलती हुई रेलगाड़ीके डिब्बेमें बैठा हुआ है, चल नहीं रहा है; परन्तु रेलगाड़ीके चलनेके कारण उसका चले बिना ही चलना हो जाता है। रेलगाड़ीमें चढ़नेके कारण अब वह चलनेसे रहित नहीं हो सकता। ऐसे ही क्रियाशील प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—किसी भी शरीरके साथ जब स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब स्वयं कर्म न करते हुए भी वह उन शरीरोंसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता हुए बिना रह नहीं सकता।

सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिके साथ कभी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मोंका कर्तापन अपनेमें कभी अनुभव नहीं करता (गीता—पाँचवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जैसे शरीरका बालकसे युवा होना, बालोंका कालेसे सफेद होना, खाये हुए अन्नका पचना, शरीरका सबल अथवा निर्बल होना आदि क्रियाएँ स्वाभाविक (अपने-आप) होती हैं, ऐसे ही दूसरी सम्पूर्ण क्रियाओंको भी सांख्ययोगी स्वाभाविक होनेवाली अनुभव करता है। तात्पर्य है कि वह अपनेको किसी भी क्रियाका कर्ता अनुभव नहीं करता।

गीतामें स्वयंको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की गयी है (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। इसी प्रकार शुद्ध स्वरूपको कर्ता माननेवालेको मलिन अन्तःकरणवाला और दुर्मति कहा गया है (अठारहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। परन्तु स्वरूपको अकर्ता माननेवालेकी प्रशंसा की गयी है (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

‘एव’ पद देनेका तात्पर्य है कि साधक कभी किंचिन्मात्र भी अपनेमें कर्तापनकी मान्यता न करे अर्थात् कभी किसी भी अंशमें अपनेको किसी कर्मका कर्ता न माने। इस प्रकार जब अपनेमें कर्तापनका भाव नहीं रहता, तब उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंकी संज्ञा ‘कर्म’ नहीं रहती, प्रत्युत ‘क्रिया’ रहती है। उन्हें ‘चेष्टामात्र’ कहा जाता है। इसी लक्ष्यसे तीसरे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें ज्ञानी महापुरुषसे होनेवाली क्रियाको ‘चेष्टते’ पदसे कहा गया है।

यहाँ ‘एव’ पद देनेका दूसरा तात्पर्य यह है कि स्वयंका शरीरके साथ तादात्म्य होनेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुल-मिल जानेपर भी और अपनेको ‘मैं कर्ता हूँ’ ऐसे मान लेनेपर भी स्वयंमें कभी कर्तृत्व आता ही नहीं और न कभी आ ही सकता है। किंतु प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके यह स्वयं अपनेमें कर्तृत्व मान लेता है; क्योंकि इसमें मानने और न माननेकी सामर्थ्य है, स्वतन्त्रता है, इसलिये यह अपनेको कर्ता भी मान लेता है और जब यह अपनी तरफ देखता है तो अकर्तापन भी इसके अनुभवमें आता है। ये दोनों बातें (अपनेमें कर्तृत्व मानना और न मानना) होनेपर भी स्वयंमें कभी कर्तृत्व आता ही नहीं। तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है—शरीरमें रहता हुआ भी वह न करता है और न लिप्त ही होता है। भोक्ता तो प्रकृतिस्थ पुरुष ही बनता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। गुणोंका—क्रियाफलका भोक्ता बननेपर भी वह वास्तवमें अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होता; किन्तु अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि न रहनेसे अपनेमें लिप्तताका भाव पैदा होता है।

यद्यपि पुरुष स्वयं स्वरूपसे निर्लिप्त है, उसमें भोक्तापन है नहीं, हो सकता नहीं, तथापि सुख-दुःखका भोक्ता तो स्वयं पुरुष (चेतन) ही बनता है अर्थात् सुखी-दुःखी तो स्वयं पुरुष (चेतन) ही होता है, जड नहीं; क्योंकि जडमें सुखी-दुःखी होनेकी शक्ति और योग्यता नहीं है। तो फिर पुरुषमें भोक्तापन है नहीं और सुख-दुःखका भोक्ता पुरुष ही बनता है—ये दोनों बातें कैसे? भोगके समय जो भोगाकार—सुख-दुःखाकार वृत्ति बनती है, वह तो प्रकृतिकी होती है और प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु उस वृत्तिके साथ तादात्म्य होनेसे सुखी-दुःखी होना अर्थात् ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’—ऐसी मान्यता अपनेमें स्वयं पुरुष ही करता है। कारण कि यह मानना पुरुषके बिना नहीं होता अर्थात् यह मानना पुरुषमें ही हो सकता है, जडमें नहीं; इस दृष्टिसे पुरुष भोक्ता कहा गया है। सुखी-दुःखी होना अपनेमें माननेपर भी अर्थात् सुखके समय सुखी और दुःखके समय दुःखी—ऐसी मान्यता अपनेमें करनेपर भी पुरुष स्वयं अपने स्वरूपसे निर्लिप्त और सुख-दुःखका प्रकाशकमात्र ही रहता है; इस दृष्टिसे पुरुषमें भोक्तापन है नहीं और हो सकता ही नहीं। कारण कि एकदेशीयपनसे ही भोक्तापन होता है और एकदेशीयपन अहंकारसे होता है। अहंकार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति जड है; अतः उसका कार्य भी जड ही होता

है अर्थात् भोक्तापन भी जड ही होता है। इसलिये भोक्तापन पुरुष-(चेतन-) में नहीं है। अगर यह पुरुष सुखके समय सुखी और दुःखके समय दुःखी होता तो इसका स्वरूप परिवर्तनशील ही होता; क्योंकि सुखका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा दुःखका भी आरम्भ और अन्त होता है। ऐसे ही यह पुरुष भी आरम्भ और अन्तवाला हो जाता, जो कि सर्वथा अनुचित है। कारण कि गीताने इसको अक्षर, अव्यय और निर्लिप्त कहा है और तत्त्वज्ञ पुरुषोंने इसका स्वरूप एकरस, एकरूप माना है। अगर इस पुरुषको सुखके समय सुखी और दुःखके समय दुःखी होनेवाला ही मानें, तो फिर पुरुष सदा एकरस, एकरूप रहता है—ऐसा कैसे कह सकते हैं?

विशेष बात

तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'—इसमें आये 'मन्यते' पदसे जो बात आयी थी, उसीका निषेध यहाँ 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'—इसमें आये 'मन्येत' पदसे किया गया है। 'मन्येत' पदका अर्थ मानना नहीं है, प्रत्युत अनुभव करना है; क्योंकि स्वरूपमें क्रिया नहीं है—यह अनुभव है, मान्यता नहीं। कर्म करते समय अथवा न करते समय—दोनों अवस्थाओंमें स्वरूपमें अकर्तापन ज्यों-का-त्यों है। इसलिये तत्त्ववित् पुरुष यह अनुभव करता है कि कर्म करते समय भी मैं वही था और कर्म न करते समय भी मैं वही रहा; अतः कर्म करने अथवा न करनेसे अपने स्वरूप-(अपनी सत्ता-) में क्या फर्क पड़ा? अर्थात् स्वरूप तो अकर्ता ही रहा। इस प्रकार प्रकृतिके परिवर्तनका ज्ञान (अनुभव) तो सबको होता है, पर अपने स्वरूपके

परिवर्तनका ज्ञान किसीको नहीं होता। स्वरूप सम्पूर्ण क्रियाओंका निर्लिप्तरूपसे आश्रय, आधार और प्रकाशक है। उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है।

स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता। जब वह प्रकृतिके साथ रागसे तादात्म्य मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव प्रतीत होने लग जाता है। उस अभावकी पूर्तिके लिये वह पदार्थोंकी कामना करने लग जाता है। कामनाकी पूर्तिके लिये उसमें कर्तापन आ जाता है; क्योंकि कामना हुए बिना स्वरूपमें कर्तापन नहीं आता।

प्रकृतिसे सम्बन्धके बिना स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता। कारण कि जिन करणोंसे कर्म होते हैं, वे करण प्रकृतिके ही हैं। कर्ता करणके अधीन होता है। जैसे कितना ही योग्य सुनार क्यों न हो, पर वह अहरन, हथौड़ा आदि औजारोंके बिना कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही कर्ता करणोंके बिना कोई क्रिया नहीं कर सकता। इस प्रकार योग्यता, सामर्थ्य और करण—ये तीनों प्रकृतिमें ही हैं और प्रकृतिके सम्बन्धसे ही अपनेमें प्रतीत होते हैं। ये तीनों घटते-बढ़ते हैं और स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः इनका स्वरूपसे सम्बन्ध है ही नहीं।

कर्तापन प्रकृतिके सम्बन्धसे है, इसलिये अपनेको कर्ता मानना परधर्म है। स्वरूपमें कर्तापन नहीं है, इसलिये अपनेको अकर्ता मानना स्वधर्म है। जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपन-(मैं ब्राह्मण हूँ, इस-) में निरन्तर स्थित रहता है, ऐसे ही तत्त्ववित् अपने अकर्तापन-(स्वधर्म-) में निरन्तर स्थित रहता है—यही 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' पदोंका भाव है।

परिशिष्ट भाव—विवेकशील ज्ञानयोगी पहले ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा प्राणोंसे होनेवाली क्रियाओंको करते हुए भी 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा मानता है, फिर उसको ऐसा अनुभव हो जाता है। वास्तवमें चिन्मय सत्तामात्रमें न करना है, न होना है! स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

अविवेकपूर्वक अहम्को अपना स्वरूप माननेसे जो 'अहङ्कारविमूढात्मा' हो गया था (गीता ३। २७), वही विवेकपूर्वक अपनेको अहम्से अलग अनुभव करनेपर 'तत्त्ववित्' हो जाता है अर्थात् उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। वह निरन्तर चिन्मय तत्त्वमें ही स्थित रहता है।

अहंकारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब अगर वह अपनेको अहम्से अलग माने और अपनेको कर्ता न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया, तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर

वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—‘शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’ (गीता १३। ३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्की सत्ता नहीं है। अतः ‘मैं कर्ता हूँ’—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि ‘मैं कर्ता नहीं हूँ।’ फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

जड़-चेतनका तादात्म्य होनेसे ‘मैं’ का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्) के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप) के लिये भी होता है। जैसे, ‘मैं कर्ता हूँ’—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और ‘मैं कर्ता नहीं हूँ’—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जड़की तरफ है अर्थात् जो अहम्को अपना स्वरूप मानता है, वह ‘अहंकारविमूढात्मा’ है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप) की तरफ है, वह ‘तत्त्ववित्’ है।

जब साधक वर्तमानमें ‘मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ’—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह प्रसन्न हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दुःखी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दुःखी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अतः साधकको यह देखना चाहिये कि जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता ही था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दुःख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दुःखी होता है। स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। अतः वह किसी भी कालमें कर्ता नहीं है। उस कालातीत और अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। अतः भूतकालमें किये गये कर्मोंकी स्मृति अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, तत्त्ववित्की नहीं।

‘नैव किञ्चित्करोमि’ का तात्पर्य है कि क्रिया नहीं है, पर सत्ता है। अतः साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। वह सत्ता चिन्मय होनेसे ज्ञानस्वरूप है और निर्विकार होनेसे आनन्दस्वरूप है। यह आनन्द अखण्ड, शान्त, एकरस है।

शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ आदि। क्रिया तो होती है शरीरमें, पर मान लेते हैं अपनी। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है, वह करने और न करने—दोनोंसे रहित है (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), इसलिये शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी सत्तामात्र अपने स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिये कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

सम्बन्ध—सातवें श्लोकमें कर्मयोगीकी और आठवें-नवें श्लोकोंमें सांख्ययोगीकी कर्मोंसे निर्लिप्तता बताकर अब भगवान् भक्तियोगीकी कर्मोंसे निर्लिप्तता बताते हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

यः	= जो (भक्तियोगी)	सङ्गम्	= आसक्तिका	पद्मपत्रम्	= कमलके
कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंको	त्यक्त्वा	= त्याग करके		पत्तेकी
ब्रह्मणि	= परमात्मामें	करोति	= (कर्म) करता है,	इव	= तरह
आधाय	= अर्पण करके (और)	सः	= वह	पापेन	= पापसे
		अम्भसा	= जलसे	न, लिप्यते	= लिप्त नहीं होता ।

व्याख्या—‘ब्रह्मण्याधाय कर्माणि’—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब भगवान्‌के ही हैं, अपने हैं ही नहीं; अतः इनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको भक्तियोगी अपनी कैसे मान सकता है? इसलिये उसका यह भाव रहता है कि मात्र क्रियाएँ भगवान्‌के द्वारा ही हो रही हैं और भगवान्‌के लिये ही हो रही हैं; मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

भगवान् ही अपनी (मेरी) इन्द्रियोंके द्वारा आप ही सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हैं—इस बातको ठीक-ठीक धारण करके सम्पूर्ण क्रियाओंके कर्तापनको भगवान्‌में ही मानना, यही उपर्युक्त पदोंका अर्थ है।

शरीरादि वस्तुएँ अपनी हैं ही नहीं, प्रत्युत मिली हुई हैं और बिछुड़ रही हैं। ये केवल भगवान्‌के नाते, भगवत्प्रीत्यर्थ दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मिली हैं। इन वस्तुओंपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है अर्थात् इनको अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं, न बदल सकते हैं और न मरनेपर साथ ही ले जा सकते हैं। इसलिये इन शरीरादिको तथा इनसे होनेवाली क्रियाओंको अपनी मानना ईमानदारी नहीं है। अतः मनुष्यको ईमानदारीके साथ जिसकी ये वस्तुएँ हैं, उसीकी अर्थात् भगवान्‌की मान लेनी चाहिये।

सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको कर्मयोगी ‘संसार’ के, ज्ञानयोगी ‘प्रकृति’ के और भक्तियोगी ‘भगवान्’ के अर्पण करता है। प्रकृति और संसार—दोनोंके ही स्वामी भगवान् हैं। अतः क्रियाओं और पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करना ही श्रेष्ठ है।

‘सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः’—किसी भी प्राणी, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, क्रिया आदिमें किंचिन्मात्र भी राग, खिंचाव, आकर्षण, लगाव, महत्त्व, ममता, कामना आदिका न रहना ही आसक्तिका सर्वथा त्याग करना है।

शास्त्रीय दृष्टिसे ‘अज्ञान’ जन्म-मरणका हेतु होते हुए भी साधनकी दृष्टिसे ‘राग’ ही जन्म-मरणका मुख्य हेतु है—

‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३। २१)। रागपर ही अज्ञान टिका हुआ है, इसलिये राग मिटनेपर अज्ञान भी मिट जाता है। इस राग या आसक्तिसे ही कामना पैदा होती है—‘सङ्गात्सञ्जायते कामः’ (गीता २। ६२)। कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ पापोंके मूल कारण आसक्तिका त्याग करनेकी बात आयी है; क्योंकि इसके रहते मनुष्य पापोंसे बच नहीं सकता और इसके न रहनेसे मनुष्य पापोंसे लिप्त नहीं होता।

किसी भी क्रियाको करते समय क्रियाजन्य सुख लेनेसे तथा उसके फलमें आसक्त रहनेसे उस क्रियाका सम्बन्ध छूटता नहीं, प्रत्युत छूटनेकी अपेक्षा और बढ़ता है। किसी भी छोटी या बड़ी क्रियाके फलरूपमें कोई वस्तु चाहना ही आसक्ति नहीं है, प्रत्युत क्रिया करते समय भी अपनेमें महत्त्वका, अच्छेपनका आरोप करना और दूसरोंसे अच्छा कहलवानेका भाव रखना भी आसक्ति ही है। इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। जिस कर्मसे अपने लिये किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी सुख पानेकी इच्छा है, वह कर्म अपने लिये हो जाता है। अपनी सुख-सुविधा और सम्मानकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके कर्म करना ही उपर्युक्त पदोंका अभिप्राय है।

‘लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा’—यह कितनी विशेष बात है कि भगवान्‌के सम्मुख होकर भक्तियोगी संसारमें रहकर सम्पूर्ण भगवदर्थ कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता! जैसे कमलका पत्ता जलमें उत्पन्न होकर और जलमें रहकर भी जलसे निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही भक्तियोगी संसारमें रहकर सम्पूर्ण क्रियाएँ करनेपर भी भगवान्‌के सम्मुख होनेके कारण संसारमें सर्वदा-सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

भगवान्‌से विमुख होकर संसारकी कामना करना ही सब पापोंका मुख्य हेतु है। कामना आसक्तिसे उत्पन्न होती है।

आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेसे कामना नहीं रह सकती, इसलिये पाप होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

धुँसे अग्निकी तरह सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)। परन्तु जिसने आशा, कामना, आसक्तिका त्याग कर दिया है, उसे ये दोष नहीं लगते। आसक्तिरहित होकर भगवदर्थ कर्म करनेके प्रभावसे सम्पूर्ण संचित पाप विलीन हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ

श्लोक)। अतः भक्तियोगीका किसी प्रकारसे भी पापसे सम्बन्ध नहीं रहता।

यहाँ 'पापेन' पद कर्मोंसे होनेवाले उस पाप-पुण्यरूप फलका वाचक है, जो आगामी जन्मारम्भमें कारण होता है। भक्तियोगी उस पाप-पुण्यरूप फलसे कभी लिप्त नहीं होता अर्थात् बँधता नहीं। इसी बातको नवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ सगुण ईश्वरको 'ब्रह्म' कहनेका तात्पर्य है कि ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है*। तात्पर्य यह हुआ कि 'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है।

वैष्णवलोग सगुण-साकार भगवान्के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा है—'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' (गीता १०। १२)। गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये हैं—'ॐ', 'तत्' और 'सत्' (१७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगीके कर्म करनेकी शैली बताते हैं।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

योगिनः	= कर्मयोगी	इन्द्रियैः	= इन्द्रियाँ,	आत्मशुद्धये	= अन्तःकरणकी
सङ्गम्	= आसक्तिका	कायेन	= शरीर,		शुद्धिके लिये,
त्यक्त्वा	= त्याग करके	मनसा	= मन (और)	अपि	= ही
केवलैः	= केवल (ममतारहित)	बुद्ध्या	= बुद्धिके द्वारा	कर्म	= कर्म
				कुर्वन्ति	= करते हैं।

व्याख्या—'योगिनः'—यहाँ 'योगिनः' पद कर्मयोगीके लिये आया है। जो योगी भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करते हैं, वे भक्तियोगी कहलाते हैं। परन्तु जो योगी केवल संसारकी सेवाके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी कहलाते हैं। कर्मयोगी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे कर्म करते हुए भी उन्हें अपना नहीं मानता, प्रत्युत संसारका ही मानता है। कारण कि शरीरादिकी संसारके साथ एकता है।

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि'—जिनको साधारण मनुष्य अपनी मानते हैं, वे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वास्तवमें किसी भी दृष्टिसे अपनी नहीं हैं, प्रत्युत

अपनेको मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। इनको अपनी मानना सर्वथा भूल है। इन सबकी संसारके साथ स्वतःसिद्ध एकता है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो शरीरादि पदार्थ किसी भी दृष्टिसे अपने नहीं हैं। मालिककी दृष्टिसे देखें तो ये भगवान्के हैं, कारणकी दृष्टिसे देखें तो ये प्रकृति हैं और कार्यकी दृष्टिसे देखें तो ये संसारके (संसारसे अभिन्न) हैं।

इस प्रकार किसी भी दृष्टिसे इनको अपना मानना, इनमें ममता रखना भूल है। ममताको सर्वथा मिटानेके लिये ही यहाँ 'केवलैः' पद प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ 'केवलैः' पद बहुवचन होनेसे इन्द्रियोंका ही

* वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते ॥ (१ । २ । ११)

विशेषण है; परन्तु इन्द्रियोंसे ही ममता हटानेके लिये कहा जाय, शरीर-मन-बुद्धिसे नहीं—ऐसा सम्भव नहीं है। शरीरादिका सम्बन्ध समष्टि संसारके साथ है। व्यष्टि कभी समष्टिसे अलग नहीं हो सकती। इसलिये व्यष्टि- (शरीरादि-) से सम्बन्ध जोड़नेपर समष्टि- (संसार-) से स्वतः सम्बन्ध जुड़ जाता है। जैसे लड़कीसे विवाह होनेपर अर्थात् सम्बन्ध जुड़नेपर सास, ससुर आदि ससुरालके सभी सम्बन्धियोंसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है, ऐसे ही संसारकी किसी भी वस्तु- (शरीरादि-)से सम्बन्ध जुड़नेपर अर्थात् उसे अपनी माननेपर पूरे संसारसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतः यहाँ 'केवलैः' पद शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि सबमें ही साधकको ममता हटानेकी प्रेरणा करता है।^१

वास्तवमें कर्ताका स्वयं निर्मम होना ही आवश्यक है। यदि कर्ता स्वयं निर्मम हो तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब जगहसे ममता सर्वथा मिट जाती है। कारण कि वास्तवमें शरीर, इन्द्रियाँ आदि स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं; अतः इनमें ममता केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं।

कर्मयोगकी साधनामें फलकी इच्छाका त्याग मुख्य है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। साधारण लोग फलप्राप्तिके लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी फलकी आसक्तिको मिटानेके लिये कर्म करता है। परन्तु जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिको अपना मानता रहता है, वह फलकी इच्छाका त्याग कर ही नहीं सकता^२। कारण कि उसका ऐसा भाव रहता है कि शरीरादि अपने हैं तो उनके द्वारा किये गये कर्मोंका फल भी अपनेको मिलना चाहिये। इस प्रकार शरीरादिको अपना माननेसे स्वतः फलकी इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिये फलकी इच्छाको मिटानेके लिये शरीरादिको कभी भी अपना न मानना अत्यन्त आवश्यक है।

'केवलैः'—पदका तात्पर्य है कि जैसे वर्षा बरसती है और उससे लोगोंका हित होता है; परन्तु उसमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं बरसती हूँ, मेरी वर्षा है जिससे दूसरोंका हित होगा, दूसरोंको सुख होगा। ऐसे ही इन्द्रियों आदिके द्वारा होनेवाले हितमें भी अपनापन मालूम न दे।

परन्तु शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके द्वारा किसीका अभीष्ट हो गया, किसीकी मनचाही बात हो गयी—इन क्रियाओंको लेकर अपने मनमें खुशी आती है तो मन, बुद्धि आदिमें केवलपना नहीं रहा, प्रत्युत उनके साथ सम्बन्ध जुड़ गया, ममता हो गयी।

'सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'—[पीछे दसवें श्लोकमें भी 'सङ्गं त्यक्त्वा' पद आये हैं; अतः इनकी व्याख्या वहीं देखनी चाहिये।]

साधारणतः मल, विक्षेप और आवरण-दोषके दूर होनेको अन्तःकरणकी शुद्धि माना जाता है। परन्तु वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि है—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ममताका सर्वथा मिट जाना। शरीरादि कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। हम ही उनको अपना मान लेते हैं। उनको अपना मानना ही अशुद्धि है—'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क)। अतः शरीरादिके प्रति अहंता-ममतापूर्वक माने गये सम्बन्धका सर्वथा अभाव ही आत्मशुद्धि है।

इस श्लोकमें आये 'केवलैः' पदसे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना न माननेकी बात आयी है। 'केवलैः' पदमें अपनापन हटानेका उद्देश्य है और 'आत्मशुद्धये' पदमें अपनापन सर्वथा हटानेकी बात आयी है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (अपनापन सर्वथा हटानेके उद्देश्यसे) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना न माननेपर भी इनमें सूक्ष्म अपनापन रह जाता है। उस सूक्ष्म अपनेपनका सर्वथा मिटना ही आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि है।

अहंतामें भी ममता रहती है। ममता सर्वथा मिटनेपर जब अहंतामें भी ममता नहीं रहती, तब सर्वथा शुद्धि हो जाती है।

'कर्म कुर्वन्ति'—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें जो सूक्ष्म अपनापन रह जाता है, उसे सर्वथा दूर करनेके लिये कर्मयोगी कर्म करते हैं।

जबतक मनुष्य कर्म करते हुए अपने लिये किसी प्रकारका सुख चाहता है अर्थात् किसी फलकी इच्छा रखता है और शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्म-सामग्रीको अपनी

१-यहाँ 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः' के अनुसार 'केवलैः' पदकी विभक्तिका परिणाम कर लेना चाहिये अर्थात् 'केवलेन कायेन', 'केवलेन मनसा', 'केवलया बुद्ध्या'—इस तरह विभक्तिको बदल लेना चाहिये।

२-यदि मनुष्य फलकी इच्छा न करे, तो भी शरीरादिको अपना माननेसे वह कर्मफलका हेतु बन ही जाता है, जिसका भगवान्ने निषेध किया है—'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता २। ४७)।

मानता है, तबतक वह कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके और कर्म-सामग्रीको अपनी न मानकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। कारण कि योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील योगीके लिये (दूसरोंके हितके लिये) कर्म

करना ही हेतु कहा जाता है—‘आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते’ (गीता ६।३)। इस प्रकार दूसरोंके हितके लिये वह ज्यों-ज्यों कर्म करता है, त्यों-ही-त्यों ममता-आसक्ति मिटती चली जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होती चली जाती है।

परिशिष्ट भाव—शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक ‘मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय’—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ममता ही खास अशुद्धि है। इसीलिये रामायणमें आया है—‘ममता मल जरि जाइ’ (मानस, उत्तर० ११७ क)। भगवान् ने भी यहाँ ‘केवलैः’ पदसे अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममताका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। अतः अन्तःकरणमें ममता (अपनापन) सर्वथा मिटानेके उद्देश्यसे कर्मयोगी अनासक्त भावसे कर्म करते हैं। वे अपने लिये कोई कर्म नहीं करते। कारण कि ममता रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता। अपने लिये कोई कर्म न करनेसे कर्मयोगीकी गति स्वरूपकी तरफ होती है।

कर्मयोगी पहले ममतारहित होनेका उद्देश्य बनाकर कर्म करता है, फिर उसके उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अन्वय और व्यतिरेक-रीतिसे कर्मयोगकी महिमाका वर्णन करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

युक्तः	= कर्मयोगी	शान्तिम्	= शान्तिको	कामकारेण	= कामनाके कारण
कर्मफलम्	= कर्मफलका	आप्नोति	= प्राप्त होता है।	फले	= फलमें
त्यक्त्वा	= त्याग करके		(परन्तु)	सक्तः	= आसक्त होकर
नैष्ठिकीम्	= नैष्ठिकी	अयुक्तः	= सकाम मनुष्य	निबध्यते	= बँध जाता है।

व्याख्या—‘युक्तः’—इस पदका अर्थ प्रसंगके अनुसार लिया जाता है; जैसे—इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें अपनेको अकर्ता माननेवाले सांख्ययोगीके लिये ‘युक्तः’ पद आया है, ऐसे ही यहाँ कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीके लिये ‘युक्तः’ पद आया है।

जिनका उद्देश्य ‘समता’ है, वे सभी पुरुष युक्त अर्थात् योगी हैं। यहाँ कर्मयोगीका प्रकरण चल रहा है, इसलिये यहाँ ‘युक्तः’ पद ऐसे कर्मयोगीके लिये आया है, जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होनेसे जिसमें सांसारिक कामनाओंका अभाव हो गया है।

‘कर्मफलं त्यक्त्वा’—यहाँ कर्मफलका त्याग करनेका तात्पर्य फलकी इच्छा, आसक्तिका त्याग करना है; क्योंकि वास्तवमें त्याग कर्मफलका नहीं, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छाका होता है। कर्मफलकी इच्छाका त्याग करनेका अर्थ है—किसी भी कर्म और कर्मफलसे अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका सुख लेनेकी इच्छा न रखना। कर्म करनेसे एक तो तात्कालिक फल (सुख)

मिलता है और दूसरा परिणाममें फल मिलता है—इन दोनों ही फलोंकी इच्छाका त्याग करना है। अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं करना है और अपनेको कुछ नहीं चाहिये—इस प्रकार कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मफलकी इच्छाका त्याग हो जाता है।

संचित-कर्मके अनुसार प्रारब्ध बनता है, प्रारब्धके अनुसार मनुष्यका जन्म होता है और मनुष्य-जन्ममें नये कर्म होनेसे नये कर्म-संस्कार संचित होते हैं। परन्तु कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेसे कर्म भुने हुए बीजकी तरह संस्कार उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं और उनकी संज्ञा ‘अकर्म’ हो जाती है (गीता—चौथे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। वर्तमानमें निष्कामभावपूर्वक किये कर्मके प्रभावसे उसके पुराने कर्म-संस्कार (संचित कर्म) भी समाप्त हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इस प्रकार उसके पुनर्जन्मका कारण ही समाप्त हो जाता है।

कर्मफल चार प्रकारके होते हैं—

(१) **दृष्ट कर्मफल**—वर्तमानमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दीखता है; जैसे—भोजन करनेसे तृप्ति होना आदि।

(२) **अदृष्ट कर्मफल**—वर्तमानमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो अभी तो संचितरूपसे संगृहीत होता है, पर भविष्यमें इस लोक और परलोकमें अनुकूलता या प्रतिकूलताके रूपमें मिलेगा।

(३) **प्राप्त कर्मफल**—प्रारब्धके अनुसार वर्तमानमें मिले हुए शरीर, जाति, वर्ण, धन, सम्पत्ति, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आदि।

(४) **अप्राप्त कर्मफल**—प्रारब्ध-कर्मके फल-रूपमें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें मिलनेवाली है।

उपर्युक्त चार प्रकारके कर्मफलोंमें दृष्ट और अदृष्ट कर्मफल 'क्रियमाण-कर्म' के अधीन हैं तथा प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल 'प्रारब्ध-कर्म' के अधीन हैं। कर्मफलका त्याग करनेका अर्थ है—दृष्ट कर्मफलका आग्रह नहीं रखना तथा मिलनेपर प्रसन्न या अप्रसन्न न होना; अदृष्ट कर्मफलकी आशा न रखना; प्राप्त कर्मफलमें ममता न करना तथा मिलनेपर सुखी या दुःखी न होना और अप्राप्त कर्मफलकी कामना न करना कि मेरा दुःख मिट जाय और सुख हो जाय।

साधारण मनुष्य किसी-न-किसी कामनाको लेकर ही कर्मोंका आरम्भ करता है और कर्मोंकी समाप्तितक उस कामनाका चिन्तन करता रहता है। जैसे व्यापारी धनकी इच्छासे व्यापार आरम्भ करता है तो उसकी वृत्तियाँ धनके लाभ और हानिकी ओर ही रहती हैं कि लाभ हो जाय, हानि न हो। धनका लाभ होनेपर वह प्रसन्न होता है और हानि होनेपर दुःखी होता है। इसी तरह सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदि कोई-न-कोई अनुकूल फलकी इच्छा रखकर ही कर्म करते हैं। परन्तु कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करता है।

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अगर कोई इच्छा ही न हो तो कर्म करें ही क्यों? इसके उत्तरमें सबसे पहली बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि मनुष्य बहुत अंशोंमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर सकता है, तो भी

मनुष्यके भीतर जबतक संसारके प्रति राग है, तबतक वह शान्तिसे (कर्म किये बिना) नहीं बैठ सकता। उससे विषयोंका चिन्तन अवश्य होगा, जो कि कर्म है। विषयोंका चिन्तन होनेसे वह क्रमशः पतनकी ओर चला जायगा (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। इसलिये जबतक रागका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तबतक मनुष्य कर्मोंसे छूट नहीं सकता। कर्म करनेसे पुराना राग मिटता है और निःस्वार्थभावसे केवल परहितके लिये कर्म करनेसे नया राग पैदा नहीं होता।

विचारपूर्वक देखा जाय तो कर्मफलकी इच्छा रखकर कर्म करना बड़ी बेसमझी है। पहली बात तो यह है कि जब प्रत्येक कर्म आरम्भ और समाप्त होनेवाला है, तब उसका फल नित्य कैसे होगा? फल भी प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म और कर्मफल—दोनों ही नाशवान् हैं या तो फल नहीं रहेगा या हमारा कहलाने-वाला शरीर नहीं रहेगा। दूसरी बात, इच्छा रखें या न रखें, जो फल मिलनेवाला है, वह तो मिलेगा ही। इच्छा करनेसे अधिक फल मिलता हो और इच्छा न करनेसे कम फल मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। अतः फलकी कामना करना बेसमझी ही है।

निष्कामभावसे अर्थात् फलकी कामना न रखकर लोकहितार्थ कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कर्मयोगीके कर्म उद्देश्यहीन अर्थात् पागलके कर्मकी तरह नहीं होते, प्रत्युत परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका महान् उद्देश्य रखकर ही वह लोकहितार्थ सब कर्म करता है। उसके कर्मोंका लक्ष्य परमात्मतत्त्व रहता है, सांसारिक पदार्थ नहीं। शरीरमें ममता न रहनेसे उसमें आलस्य, अकर्मण्यता आदि दोष नहीं आते, प्रत्युत वह कर्मोंको सुचारुरूपसे और तत्परताके साथ करता है।

मार्मिक बात

जिन कर्मोंको करनेसे नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, वे ही कर्म निष्कामभावपूर्वक एकमात्र परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर लोकहितार्थ करनेसे नित्यसिद्ध परमात्मतत्त्वकी अनुभूतिमें हेतु बन सकते हैं। तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें कहा गया है कि कर्मोंके द्वारा ही जनकादि कर्मयोगियोंको परमात्मप्राप्तिरूप सिद्धि मिली; और छठे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा गया है कि योगमें आरूढ़ होनेके लिये कर्म करना आवश्यक है। इन सब

बातोंसे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर्मोंसे होती है। पार्वती, मनु-शतरूपा आदिको भी तपरूप कर्मसे भगवत्प्राप्ति हुई। यह बात भी आती है कि जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय, श्रवण, मनन आदि साधनोंसे तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। इसके विपरीत ऐसी बात भी आती है कि तप आदि कर्मोंसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक), परमात्मा किसी कर्मका फल नहीं हैं आदि। इन दोनों बातोंमें सामंजस्य कैसे हो ?

इसका समाधान है कि वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती। वे किसी कर्मका फल नहीं हैं। परमात्मा प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें सदा-सर्वदा विद्यमान हैं। वे सदा-सर्वदा सबको प्राप्त हैं और सभी प्राणियोंकी सदा-सर्वदा उन्हींमें स्थिति है। परमात्मासे कोई भी मनुष्य कभी अलग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। परन्तु जड प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिसे अहंता-ममतापूर्वक अपना सम्बन्ध मानते रहनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो जाता है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन परमात्माको अपना न मानकर जो अपने हैं ही नहीं, उन नाशवान् पदार्थोंको अपना मानने लग जाता है। अतः जड पदार्थोंके साथ जीवका जो रागयुक्त सम्बन्ध है, उसे मिटानेमें ही सम्पूर्ण साधनोंकी सार्थकता है।

जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है। अतः तप आदि साधन करते-करते जब जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तभी परमात्मप्राप्ति होती है। वही सम्बन्ध-विच्छेद तब बहुत सुगमतासे हो जाता है, जब निष्कामभावसे केवल लोकहितके लिये कर्तव्य-कर्म किये जायँ।

परमात्मा किसी साधनसे खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ मिलकर भी चिन्मय और अविनाशी परमात्माकी किञ्चिन्मात्र भी समानता नहीं कर सकते। दूसरी बात, मूल्य देकर जो वस्तु मिलती है, वह उस मूल्यसे कमजोर (कम मूल्यवाली) ही होती है। यदि कर्मोंसे परमात्मा मिल जायँ तो वे कर्मोंसे कमजोर ही सिद्ध होंगे।

यहाँ एक मार्मिक बात समझनेकी है कि प्रायः साधक

जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे साधन करते हैं, उनका सम्बन्ध, महत्त्व और आश्रय रखते हुए ही साधन करते हैं। जबतक इन शरीरादिसे यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध है; तबतक जडतासे सम्बन्ध बना हुआ है। जडतासे सम्बन्ध रखते हुए परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता। परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति जडताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है।

जिस जातिका संसार है, उसी जातिके ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि हैं। अतः इन्हें संसारका ही मानकर, संसारकी ही सेवामें लगा दे (जो कर्मयोग है)। परन्तु इन शरीरादिसे किञ्चिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न माने, इन्हें महत्त्व न दे, इनका आश्रय न रखे; क्योंकि असत्से सम्बन्ध रखते हुए असत्की सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती। असत्से सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये निष्कामभावसे किये हुए सब कर्म (साधन) सहायक होते हैं। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्मासे जो विमुखता हो रही थी, वह मिट जाती है और नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है।

‘शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्’—यह बात अनुभव-सिद्ध है कि सांसारिक पदार्थोंकी कामना और ममताके त्यागसे शान्ति मिलती है। सुषुप्तिमें जब संसारकी विस्मृति हो जाती है, तब उसमें भी शान्तिका अनुभव होता है। यदि जाग्रतमें ही संसारका सम्बन्ध-विच्छेद (कामना-ममताका त्याग) हो जाय, तो फिर कहना ही क्या है! ऐसे ही नींद आने, किसी कार्यके पूरा होने, लड़कीका विवाह होने आदिसे भी एक शान्ति मिलती है। तात्पर्य है कि सांसारिक कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करते ही शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु इस शान्तिका उपभोग करनेसे अर्थात् इसमें सुख लेनेसे और इसे ही लक्ष्य मान लेनेसे साधक इस शान्तिके फलस्वरूप मिलनेवाली ‘नैष्ठिकी शान्ति’* अर्थात् परमशान्तिसे वंचित रह जाता है। कारण कि यह शान्ति ध्येय नहीं है, प्रत्युत परमशान्तिका कारण है—**‘योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते’** (गीता ६।३)।

संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति सत्त्व-गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली सात्त्विकी शान्ति है। जबतक साधक इस शान्तिका भोग करता है और इस शान्तिसे ‘मुझमें शान्ति है’ इस प्रकार अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक

* यह ‘नैष्ठिकी शान्ति’ परमात्मप्राप्तिरूप ही है। इसे ही गीतामें कहीं ‘शश्वच्छान्तिम्’ (१।३१) पदसे, कहीं ‘परान्तिम्’ (४।३९; १८।६२) पदोंसे और कहीं ‘शान्तिम्’ (५।२९; २।७०-७१) पदोंसे भी कहा गया है।

परिच्छिन्नता रहती है (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक) और जबतक परिच्छिन्नता रहती है, तबतक अखण्ड एकरस रहनेवाली वास्तविक शान्तिका अनुभव नहीं होता।

‘अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते’—जो कर्मयोगी नहीं है, प्रत्युत कर्मी है, ऐसे सकाम पुरुषके लिये यहाँ ‘अयुक्तः’ पद आया है।

सकाम पुरुष नयी-नयी कामनाओंके कारण फलमें आसक्त होकर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है। कामनामात्रसे कोई भी पदार्थ नहीं मिलता, अगर मिलता भी है तो सदा साथ नहीं रहता— ऐसी बात प्रत्यक्ष होनेपर भी पदार्थोंकी कामना रखना प्रमाद ही है। तुलसीदासजी

महाराज कहते हैं—

अंतहुँ तोहि तजेंगे पामर तू न तजै अबही ते ॥

(विनय-पत्रिका १९८)

इसका अर्थ यह नहीं कि पदार्थोंको स्वरूपसे छोड़ दें। अगर स्वरूपसे छोड़नेपर ही मुक्ति होती तो मरनेवाले (शरीर छोड़नेवाले) सभी मुक्त हो जाते। पदार्थ तो अपने-आप ही स्वरूपसे छूटते चले जा रहे हैं। अतः वास्तवमें उन पदार्थोंमें जो कामना, ममता और आसक्ति है, उसीको छोड़ना है; क्योंकि पदार्थोंसे कामना-ममता-आसक्तिपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण है। कर्मयोगके आचरणसे (कर्मोंका प्रवाह केवल परहितके लिये होनेसे) यह माना हुआ सम्बन्ध सुगमतासे छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें मुक्तिके लिये अथवा परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना भी फलासक्ति है। मनुष्यकी आदत पड़ी हुई है कि वह प्रत्येक कार्य फलकी कामनासे करता है, इसीलिये कहा जाता है कि मुक्तिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करे। वास्तवमें साधन केवल असाधनको मिटानेके लिये है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परमात्मप्राप्ति किसी क्रियाका फल नहीं है। अतः कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति होगी—ऐसी इच्छा रखना भी फलेच्छा है।

साधकको यह नहीं देखना चाहिये कि मैं यह साधन करूँगा तो इसका यह फल होगा। फलको देखना ही फलासक्ति है, जिससे वर्तमानमें साधन ठीक नहीं होता। अतः फलको न देखकर अपने साधनको देखना चाहिये, साधन तत्पर होकर करना चाहिये, फिर सिद्धि अपने-आप आयेगी। अगर साधक फलकी ओर देखता रहेगा तो सिद्धि नहीं होगी।

हम निर्विकल्प, निष्काम हो जायँगे तो बड़ा सुख मिलेगा—इस प्रकार मूलमें सुख लेनेकी जो इच्छा रहती है, यह भी फलेच्छा है, जो साधकको निर्विकल्प, निष्काम नहीं होने देती।

सम्बन्ध—कर्मयोगका वर्णन करके अब भगवान् पुनः सांख्ययोगका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

वशी	= जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, (ऐसा)	सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंका	कुर्वन्	= करता हुआ (और)
देही	= देहधारी पुरुष	मनसा	= (विवेकपूर्वक) मनसे	न	= न
नवद्वारे	= नौ द्वारोंवाले	सन्न्यस्य	= त्याग करके	कारयन्	= करवाता हुआ
पुरे	= (शरीररूपी) पुरमें	एव	= निःसन्देह	सुखम्	= सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें)
		न	= न	आस्ते	= स्थित रहता है।

व्याख्या—‘वशी देही’—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ममता-आसक्ति होनेसे ही ये मनुष्यपर अपना अधिकार जमाते हैं। ममता-आसक्ति न रहनेपर ये स्वतः अपने वशमें रहते हैं। सांख्ययोगीकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ममता-आसक्ति न रहनेसे ये सर्वथा उसके वशमें रहते हैं। इसलिये यहाँ उसे ‘वशी’ कहा गया है।

जबतक किसी भी मनुष्यका प्रकृतिके कार्य (शरीर,

इन्द्रियों आदि) के साथ किंचिन्मात्र भी कोई प्रयोजन रहता है, तबतक वह प्रकृतिके ‘अवश’ अर्थात् वशीभूत रहता है—‘कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः’ (गीता ३।५)। प्रकृति सदैव क्रियाशील रहती है। अतः प्रकृतिसे सम्बन्ध बना रहनेके कारण मनुष्य कर्मरहित हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रकृतिके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे ममता-आसक्तिपूर्वक कोई सम्बन्ध

न होनेसे सांख्ययोगी उनकी क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता। यद्यपि सांख्ययोगीका शरीरके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता, तथापि लोगोंकी दृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है। इसलिये उसे 'देही' कहा गया है।

'नवद्वारे पुरे'—शब्दादि विषयोंका सेवन करनेके लिये दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाछिद्र तथा एक मुख—ये सात द्वार शरीरके ऊपरी भागमें हैं, और मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये गुदा और उपस्थ—ये दो द्वार शरीरके निचले भागमें हैं। इन नौ द्वारोंवाले शरीरको 'पुर' अर्थात् नगर कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे नगर और उसमें रहनेवाला मनुष्य—दोनों अलग-अलग होते हैं, ऐसे ही यह शरीर और इसमें रहनेका भाव रखनेवाला जीवात्मा—दोनों अलग-अलग हैं। जैसे नगरमें रहनेवाला मनुष्य नगरमें होनेवाली क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ नहीं मानता, ऐसे ही सांख्ययोगी शरीरमें होनेवाली क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ नहीं मानता।

'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य'—इसी अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राणोंके द्वारा होनेवाली जिन तेरह क्रियाओंका वर्णन हुआ है, उन सब क्रियाओंका बोधक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है।

यहाँ 'मनसा सन्न्यस्य' पदोंका अभिप्राय है—विवेकपूर्वक मनसे त्याग करना। यदि इन पदोंका अर्थ केवल मनसे त्याग करना माना जाय तो दोष आता है; क्योंकि मनसे त्याग करना भी मनकी एक क्रिया है और गीता मनसे होनेवाली क्रियाको 'कर्म' मानती है—'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः' (१८। १५)। शरीरसे होनेवाली क्रियाओंके कर्तापनका मनसे त्याग करनेपर भी मनकी (त्यागरूप) क्रियाका कर्तापन तो रह ही गया! अतः 'मनसा सन्न्यस्य' पदोंका तात्पर्य है—विवेकपूर्वक मनसे क्रियाओंके कर्तापनका त्याग करना अर्थात् कर्तापनसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करना। जहाँसे कर्तापनका सम्बन्ध माना है, वहाँसे उस सम्बन्धका त्याग करना है। सांख्ययोगी अपनेमें कर्तापन न मानकर उसे शरीरमें ही छोड़ देता है अर्थात् कर्तापन शरीरमें ही है, अपनेमें कभी नहीं।

'नैव कुर्वन्न कारयन्'—सांख्ययोगीमें कर्तृत्व और कारयितृत्व—दोनों ही नहीं होते अर्थात् वह करनेवाला भी नहीं होता और करवानेवाला भी नहीं होता।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे किंचिन्मात्र भी

अहंता-ममताका सम्बन्ध न होनेके कारण सांख्ययोगी उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको कैसे मान सकता है? अर्थात् कभी नहीं मान सकता। इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें भी 'नैव किञ्चित् करोमि' पदोंसे यही बात कही गयी है। तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति' पदोंसे कहा है कि शरीरमें रहते हुए भी यह अविनाशी आत्मा कुछ नहीं करता।

यहाँ शंका होती है कि जीवात्मा स्वयं कोई कर्म नहीं करता; किन्तु वह प्रेरक बनकर कर्म तो करवा सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे सूर्यभगवान्का उदय होनेपर सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश छा जाता है, लोग अपने-अपने कामोंमें लग जाते हैं, कोई खेती करता है, कोई वेदपाठ करता है, कोई व्यापार करता है आदि। परन्तु सूर्यभगवान् विहित या निषिद्ध किसी भी क्रियाके प्रेरक नहीं होते। उनसे सबको प्रकाश मिलता है, पर उस प्रकाशका कोई सदुपयोग करे या दुरुपयोग, इसमें सूर्यभगवान्की कोई प्रेरणा नहीं है। यदि उनकी प्रेरणा होती तो पाप या पुण्य-कर्मोंका भागी भी उन्हींको होना पड़ता। ऐसे ही चेतनतत्त्वसे प्रकृतिको सत्ता और शक्ति तो प्राप्त होती है, पर वह किसी क्रियाका प्रेरक नहीं होता। यही बात भगवान्ने यहाँ 'न कारयन्' पदोंसे कही है।

'आस्ते सुखम्'—मनुष्यमात्रकी स्वरूपमें स्वाभाविक स्थिति है; परन्तु वे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिमें मान लेते हैं, जिससे उन्हें इस स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं होता। परन्तु सांख्ययोगीको निरन्तर स्वरूपमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता रहता है। स्वरूप सदा-सर्वदा सुख-स्वरूप है। वह सुख अखण्ड, एकरस और परिच्छिन्नतासे रहित है।

एक वस्तुकी दूसरी वस्तुमें जैसी स्थिति होती है, स्वरूपमें वैसी स्थिति नहीं होती। कारण कि स्वरूप ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। उस स्वरूपमें मनुष्यकी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है; अतः उसमें स्थित होनेमें कोई श्रम, उद्योग नहीं है। स्वरूपको पहचाननेपर एक स्वरूप-ही-स्वरूप रह जाता है। पहचानमात्रको समझानेके लिये ही यहाँ 'आस्ते' पदका प्रयोग हुआ है। इसे ही चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें 'स्वस्थः' पदसे कहा गया है।

यहाँ 'आस्ते' क्रिया जिस तत्त्वकी सत्ताको प्रकट कर रही है, वह सब आधारोंका आधार है। समस्त उत्पन्न तत्त्व उस अनुत्पन्न तत्त्वके आश्रित हैं। उस सर्वाधिष्ठानरूप

तत्त्वको किसी आधारकी आवश्यकता ही क्या है? उस पदसे कहा गया है। इसे ही आगे बीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मविद् स्वतःसिद्ध तत्त्वमें स्वाभाविक स्थितिको ही यहाँ 'आस्ते' ब्रह्मणि स्थितः' पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—'नैव कुर्वन्न कारयन्'—तत्त्वप्राप्तिमें करनेका भाव ही बाधक है। करनेके भावसे ही कर्तृत्व आता है और कर्तृत्वसे व्यक्तित्व आता है। क्रिया प्रकृतिमें है, स्वरूपमें स्वतः अक्रियता है। अतः करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और कुछ नहीं करनेसे स्वरूपमें स्वतः स्थिति होती है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भाव भी 'करने' के ही अन्तर्गत है। अतः करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये और न करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये—'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (गीता ३। १८)। स्वरूप करने और न करने—दोनोंसे रहित अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व है।

वशी—गुणोंके संगसे ही जीव 'अवश' अर्थात् पराधीन होता है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगसे अवशता मिट जाती है और जीव 'वशी' अर्थात् स्वाधीन, निरपेक्ष जीवन हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि सांख्ययोगी न तो कर्म करता है और न करवाता ही है; किन्तु भगवान् तो कर्म करवाते होंगे? इसके उत्तरमें आगेका श्लोक कहते हैं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

प्रभुः	= परमेश्वर	कर्माणि	= कर्मोंकी (और)	सृजति	= रचना
लोकस्य	= मनुष्योंके	न	= न		करते हैं;
न	= न	कर्मफल-		तु	= किन्तु
कर्तृत्वम्	= कर्तापनकी,	संयोगम्	= कर्मफलके	स्वभावः	= स्वभाव (ही)
न	= न		साथ संयोगकी	प्रवर्तते	= बरत रहा है।

व्याख्या—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'—सृष्टिकी रचनाका कार्य सगुण भगवान्का है, इसलिये 'प्रभुः' पद दिया है। भगवान् सर्वसमर्थ हैं और सबके शासक, नियामक हैं। सृष्टिरचनाका कार्य करनेपर भी वे अकर्ता ही हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

किसी भी कर्मके कर्तापनका सम्बन्ध भगवान्का बनाया हुआ नहीं है। मनुष्य स्वयं ही कर्मके कर्तापनकी रचना करता है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा किये जाते हैं; परन्तु मनुष्य अज्ञानवश प्रकृतिसे तादात्म्य कर लेता है और उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्ता बन जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। यदि कर्तापनका सम्बन्ध भगवान्का बनाया हुआ होता, तो भगवान् इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'—ऐसा कैसे कहते? तात्पर्य यह है कि कर्तापन भगवान्का बनाया हुआ नहीं है, अपितु जीवका अपना माना हुआ है। अतः जीव इसका त्याग कर सकता है।

भगवान् ऐसा विधान भी नहीं करते कि अमुक जीवको अमुक शुभ अथवा अशुभ कर्म करना पड़ेगा। यदि

ऐसा विधान भगवान् कर देते तो विधि-निषेध बतानेवाले शास्त्र, गुरु, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जाते, उनकी कोई सार्थकता ही नहीं रहती और कर्मोंका फल भी जीवको नहीं भोगना पड़ता। 'न कर्माणि' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

'न कर्मफलसंयोगम्'— जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल उसे भोगना पड़ता है। जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं अपना फल भुगतानेमें असमर्थ हैं। अतः कर्मके फलका विधान भगवान् करते हैं—'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्' (गीता ७। २२)। भगवान् कर्मोंका फल तो देते हैं, पर उस फलके साथ सम्बन्ध भगवान् नहीं जोड़ते, प्रत्युत जीव स्वयं जोड़ता है। जीव अज्ञानवश कर्मोंका कर्ता बनकर और कर्मफलमें आसक्त होकर कर्मफलके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और इसीसे सुखी-दुःखी होता है। यदि वह कर्मफलके साथ स्वयं अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो वह कर्मफलके सम्बन्धसे मुक्त रह सकता है। ऐसे कर्मफलसे सम्बन्ध न जोड़नेवाले पुरुषोंके लिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'सन्यासिनाम्' पद आया है। उन्हें कर्मोंका फल

इस लोक या परलोकमें कहीं नहीं मिलता। यदि कर्मफलका सम्बन्ध भगवान्ने जोड़ा होता तो जीव कभी कर्मफलसे मुक्त नहीं होता।

दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—‘**मा कर्मफलहेतुर्भूः**’ अर्थात् कर्मफलका हेतु भी मत बन। तात्पर्य हुआ कि सुखी-दुःखी होना अथवा न होना और कर्मफलका हेतु बनना अथवा न बनना मनुष्यके हाथमें है। यदि कर्मफलका सम्बन्ध भगवान्का बनाया हुआ होता, तो मनुष्य कभी सुख-दुःखमें सम नहीं हो पाता और निष्कामभावसे कर्म भी नहीं कर पाता, जिसे करनेकी बात भगवान्ने गीतामें जगह-जगह कही है (जैसे चौथे अध्यायका बीसवाँ, पाँचवें अध्यायका बारहवाँ और चौदहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक आदि)।

शंका—श्रुतिमें आता है कि भगवान् जिसकी ऊर्ध्वगति करना चाहते हैं, उससे तो शुभ-कर्म करवाते हैं और जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उससे अशुभ-कर्म करवाते हैं^१। जब भगवान् ही शुभाशुभ कर्म करवाते हैं, तो फिर ‘भगवान् किसीके कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोगकी रचना नहीं करते’—ऐसा कहना तो श्रुतिके साथ विरोध हुआ।

समाधान—वास्तवमें श्रुतिके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य शुभाशुभ कर्म करवाकर मनुष्यकी ऊर्ध्वगति और अधोगति करनेमें नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार कर्मफल भुगताकर उसे शुद्ध करनेमें है^२ अर्थात् मनुष्य शुभाशुभ कर्मोंका फल जैसे भोग सके, भगवान् कृपापूर्वक उसे कर्मबन्धनसे मुक्त करके अपना वास्तविक प्रेम प्रदान करनेके लिये (उसके प्रारब्धके अनुसार) वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बना देते हैं। जैसे, जिस मनुष्यको प्रारब्धके अनुसार धनकी प्राप्ति होनेवाली है, उसे व्यापार आदिमें वैसी ही (खरीदने आदिकी) प्रेरणा कर देते हैं अर्थात् उस समय उसकी वैसी ही बुद्धि बन जाती है और जिसे प्रारब्धके अनुसार हानि

होनेवाली है, उसे व्यापार आदिमें वैसी ही प्रेरणा कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस प्रकारसे अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोग सके, भगवत्प्रेरणासे वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बन जाती है।

यदि श्रुतिका यही अर्थ लिया जाय कि भगवान् जिसकी ऊर्ध्वगति और अधोगति करना चाहते हैं, उससे शुभ और अशुभ-कर्म करवाते हैं, तो मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा पराधीन हो जायगा और शास्त्रों, सन्त-महात्माओं आदिका विधि-निषेध, गुरुकी शिक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जायँगे। अतः यहाँ श्रुतिका तात्पर्य कर्मोंका फल भुगताकर मनुष्यको शुद्ध करना ही है।

‘**स्वभावस्तु प्रवर्तते**’—कर्तापन, कर्म और कर्म-फलका सम्बन्ध—इन तीनोंको मनुष्य अपने स्वभावके वशमें होकर करता है। यहाँ ‘**स्वभावः**’ पद व्यष्टि प्रकृति-(आदत) का वाचक है, जिसे स्वयं जीवने बनाया है। जबतक स्वभावमें राग-द्वेष रहते हैं, तबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता। जबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता, तबतक जीव स्वभावके वशीभूत रहता है।

तीसरे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें ‘**प्रकृतिं यान्ति भूतानि**’ पदोंसे भगवान्ने कहा है कि मनुष्योंको अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावके वशीभूत होकर कर्म करने पड़ते हैं। यही बात भगवान् यहाँ ‘**तु स्वभावः प्रवर्तते**’ पदोंसे कह रहे हैं।

जबतक प्रकृति अर्थात् स्वभावसे जीवका सम्बन्ध माना हुआ है, तबतक कर्तापन, कर्म और कर्मफलके साथ संयोग—इन तीनोंमें जीवकी परतन्त्रता बनी रहेगी, जो जीवकी ही बनायी हुई है।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलसंयोग (भोक्तृत्व)—तीनों जीवके अपने बनाये हुए हैं, इसलिये वह स्वयं इनका त्याग करके निर्लिप्तताका अनुभव कर सकता है।

परिशिष्ट भाव—कर्तापन, कर्म और कर्मफलका संयोग परमात्माकी सृष्टि नहीं है, प्रत्युत जीवकी सृष्टि है। इसलिये जीवपर ही इनके त्यागकी जिम्मेवारी है।

‘**स्वभावस्तु प्रवर्तते**’—वास्तवमें संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद स्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकता देखनेके कारण संसारका सम्बन्ध स्वाभाविक दीखने लग गया। यह स्वभाव स्वतः नहीं है, प्रत्युत बनाया हुआ (कृत्रिम) है।

१-‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमथो निनीषते।’

(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ३।८)

२-मूलमें शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्म मनुष्य कामनाके वशीभूत होकर ही करता है (गीता ३।३७), जिनका फल क्रमशः ऊर्ध्वगति (स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति) और अधोगति (नरकोंकी प्राप्ति) होता है। मनुष्य मुक्तिके लिये भगवान्की दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही कामना करता है।

सम्बन्ध—जब भगवान् किसीके कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोगकी रचना नहीं करते, तो फिर वे किसीके कर्मोंके फलभागी कैसे हो सकते हैं?—इस बातको आगेके श्लोकमें स्पष्ट करते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

विभुः	= सर्वव्यापी परमात्मा	न	= न	ज्ञानम्	= ज्ञान
न	= न	सुकृतम्	= शुभ-कर्मको	आवृतम्	= ढका हुआ है,
कस्यचित्	= किसीके	एव	= ही	तेन	= उसीसे
पापम्	= पापकर्मको	आदत्ते	= ग्रहण करता है; (किन्तु)	जन्तवः	= सब जीव
च	= और	अज्ञानेन	= अज्ञानसे	मुह्यन्ति	= मोहित हो रहे हैं।

व्याख्या—‘नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः’—पूर्वश्लोकमें जिसको ‘प्रभुः’ पदसे कहा गया है, उसी परमात्माको यहाँ ‘विभुः’ पदसे कहा गया है।

कर्मफलका भागी होना दो प्रकारसे होता है—जो कर्म करता है, वह भी कर्मफलका भागी होता है और जो दूसरेसे कर्म करवाता है, वह भी कर्मफलका भागी होता है। परन्तु परमात्मा न तो किसीके कर्मको करनेवाला है और न कर्म करवानेवाला ही है; अतः वह किसीके भी कर्मका फलभागी नहीं हो सकता।

सूर्य सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश देता है और उस प्रकाशके अन्तर्गत मनुष्य पाप और पुण्य-कर्म करते हैं; परन्तु उन कर्मोंसे सूर्यका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मतत्त्वसे प्रकृति सत्ता पाती है अर्थात् सम्पूर्ण संसार सत्ता पाता है। उसीकी सत्ता पाकर प्रकृति और उसका कार्य संसार-शरीरादि क्रियाएँ करते हैं। उन शरीरादिसे होनेवाले पाप-पुण्योंका परमात्मतत्त्वसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। कारण कि भगवान्ने मनुष्यमात्रको स्वतन्त्रता दे रखी है; अतः मनुष्य उन कर्मोंका फलभागी अपनेको भी मान सकता है और भगवान्को भी मान सकता है अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों और कर्मफलोंको भगवान्के अर्पण भी कर सकता है। जो भगवान्की दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता अपनेको मान लेता है, वह बन्धनमें पड़ जाता है। उसके कर्म और कर्मफलको भगवान् ग्रहण नहीं करते। परन्तु जो मनुष्य उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके कर्म और कर्मफल भगवान्के अर्पण करता है, वह मुक्त हो जाता है। उसके कर्म और कर्मफलको भगवान् ग्रहण करते हैं।

जैसे सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें ‘सर्वस्य’

पदसे और छब्बीसवें श्लोकमें ‘कश्चन’ पदसे सामान्य मनुष्योंकी बात कही गयी है, ऐसे ही यहाँ ‘कस्यचित्’ पदसे अपनेको कर्ता और भोक्ता मानकर कर्म करनेवाले सामान्य मनुष्योंकी बात कही गयी है, न कि भक्तोंकी। कारण कि भावग्राही होनेसे भगवान् भक्तोंके द्वारा अर्पण किये हुए पत्र, पुष्प आदि पदार्थोंको और सम्पूर्ण कर्मोंको ग्रहण करते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)।

‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्’—स्वरूपका ज्ञान सभी मनुष्योंमें स्वतःसिद्ध है; किन्तु अज्ञानके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। उस अज्ञानके कारण जीव मूढ़ताको प्राप्त हो रहे हैं। अपनेको कर्मोंका कर्ता मानना मूढ़ता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। भगवान्के द्वारा मनुष्य-मात्रको विवेक दिया हुआ है, जिसके द्वारा इस मूढ़ताका नाश किया जा सकता है। इसलिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें कहा गया है कि सांख्ययोगी कभी भी अपनेको किसी कर्मका कर्ता न माने और तेरहवें श्लोकमें कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्मोंके कर्तापनको विवेकपूर्वक मनसे छोड़ दे।

शरीरादि सम्पूर्ण पदार्थोंमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। स्वरूपमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। स्वरूपसे अपरिवर्तनशील होनेपर भी अपनेको परिवर्तनशील पदार्थोंसे एक मान लेना अज्ञान है। शरीरादि सब पदार्थ बदल रहे हैं—ऐसा जिसे अनुभव है वह स्वयं कभी नहीं बदलता। इसलिये स्वयंके बदलनेका अनुभव किसीको नहीं होता। अतः मैं बदलनेवाला नहीं हूँ—इस प्रकार परिवर्तनशील पदार्थोंसे अपनी असंगतताका अनुभव कर लेनेसे अज्ञान मिट जाता है और तत्त्वज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जाता है। कारण

कि प्रकृतिके कार्यसे अपना सम्बन्ध मानते रहनेसे ही तत्त्वज्ञान ढका रहता है।

‘अज्ञान’ शब्दमें जो ‘नञ्’ समास है, वह ज्ञानके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत अल्पज्ञान अर्थात् अधूरे ज्ञानका वाचक है। कारण कि ज्ञानका अभाव कभी होता ही नहीं, चाहे उसका अनुभव हो या न हो। इसलिये अधूरे ज्ञानको ही अज्ञान कहा जाता है। इन्द्रियोंका और बुद्धिका ज्ञान ही अधूरा ज्ञान है। इस अधूरे ज्ञानको महत्त्व देनेसे, इसके प्रभावसे प्रभावित होनेसे वास्तविक ज्ञानकी ओर दृष्टि जाती ही नहीं—यही अज्ञानके द्वारा ज्ञानका आवृत होना है।

इन्द्रियोंका ज्ञान सीमित है। इन्द्रियोंके ज्ञानकी अपेक्षा बुद्धिका ज्ञान असीम है। परन्तु बुद्धिका ज्ञान मन और इन्द्रियोंके ज्ञान-(जानने और न जानने-)को ही प्रकाशित करता है अर्थात् बुद्धि अपने विषय-पदार्थोंको ही प्रकाशित करती है। बुद्धि जिस प्रकृतिका कार्य है और जिस बुद्धिका कारण प्रकृति है, उस प्रकृतिको बुद्धि प्रकाशित नहीं करती। बुद्धि जब प्रकृतिको भी प्रकाशित नहीं कर सकती, तब प्रकृतिसे अतीत जो चेतन-तत्त्व है, उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है! इसलिये बुद्धिका ज्ञान अधूरा ज्ञान है।

‘तेन मुह्यन्ति जन्तवः’—भगवान्ने ‘जन्तवः’ पद देकर मानो मनुष्योंकी ताड़ना की है कि जो मनुष्य अपने

परिशिष्ट भाव—जैसे अन्धकारमें सूर्यको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे ही अज्ञानमें ज्ञानको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है। अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया—यही अज्ञान है, जिससे मनुष्य मोहित हो जाता है। अतः अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकनेकी बात केवल मूढ़तावश की गयी मान्यता है, वास्तविकता नहीं है। मनुष्य चाहे तो अपने विवेकको महत्त्व देकर इस मूढ़ताको मिटा सकता है (गीता—पाँचवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

वास्तवमें ज्ञान नहीं ढकता, प्रत्युत बुद्धि ही ढकती है। परन्तु मनुष्यको ज्ञान ढका हुआ दीखता है, इसलिये यहाँ ‘आवृत’ शब्द दिया है। यही बात तीसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भी ‘आवृतं ज्ञानमेतेन’ पदोंसे कही गयी है। अज्ञान अभावरूप है, उसकी सत्ता नहीं है। जिसका अभाव है, उससे आवरण नहीं हो सकता। अतः उलटा ज्ञान अर्थात् अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताका आरोप ही अज्ञान है^२। अगर अस्वाभाविकता मिटकर स्वाभाविकता हो जाय तो सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव हो जायगा। व्यक्तित्व ही पाप-पुण्यको, सुकृत-दुष्कृतको ग्रहण करता है; अतः सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव होनेपर अर्थात् व्यक्तित्व मिटनेपर फिर पाप-पुण्यका ग्रहण नहीं होता।

अज्ञान अर्थात् उलटे ज्ञान (अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि) के कारण मनुष्य ‘जन्तु’ हो जाता है—‘तेन मुह्यन्ति जन्तवः।’ इसी तरह जड़से सम्बन्ध माननेके कारण जीव ‘जगत्’ (जड़) हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका

विवेकको महत्त्व नहीं देते, वे वास्तवमें जन्तु अर्थात् पशु ही हैं^३; क्योंकि उनके और पशुओंके ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। आकृतिमात्रसे कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य वही है, जो अपने विवेकको महत्त्व देता है। इन्द्रियोंके द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं; पर उन भोगोंको भोगना मनुष्य-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य सुख-दुःखसे रहित तत्त्वको प्राप्त करना है। जिनको अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान है, वे मनुष्य साधक कहलानेयोग्य हैं।

अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेना तथा कर्मफलमें हेतु बनकर सुखी-दुःखी होना ही अज्ञानसे मोहित होना है। पाप-पुण्य हमें करने पड़ते हैं, इनसे हम कैसे छूट सकते हैं? सुखी-दुःखी होना हमारे कर्मोंका फल है, इनसे हम अतीत कैसे हो सकते हैं?—इस प्रकारकी धारणा बना लेना ही अज्ञानसे मोहित होना है।

जीव स्वरूपसे अकर्ता तथा सुख-दुःखसे रहित है। केवल अपनी मूर्खताके कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है। इस मूढ़ता-(अज्ञान-) को ही यहाँ ‘तेन’ पदसे कहा गया है। इस मूढ़तासे अज्ञानी मनुष्य सुखी-दुःखी हो रहे हैं, इस बातको यहाँ ‘तेन मुह्यन्ति जन्तवः’ पदोंसे कहा गया है।

१-आहारनिद्राभयमैथुनानि समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।

ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥ (चाणक्यनीति १७। १७)

‘आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें समान ही हैं। मनुष्योंमें विशेषता यही है कि उनमें विवेक रहता है। विवेकसे शून्य मनुष्य तो पशुके समान हैं।’

२-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन २। ५)

‘अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्मभावकी अनुभूति अविद्या है।’

तेरहवाँ श्लोक) ।

जो हमसे घुला-मिला हुआ है, उस परमात्माको तो अपनेसे अलग मान लिया और जो हमसे अलग है, उस शरीरको अपनेसे घुला-मिला मान लिया—यह अज्ञान है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका जानेके कारण सब जीव मोहित हो रहे हैं। अपने विवेकके द्वारा उस अज्ञानका नाश कर देनेपर जिस ज्ञानका उदय होता है, उसकी महिमा आगेके श्लोकमें कहते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

तु	= परन्तु	अज्ञानम्	= अज्ञानका	आदित्यवत्	= सूर्यकी तरह
येषाम्	= जिन्होंने	नाशितम्	= नाश कर दिया है,	परम्	= परमतत्त्व
आत्मनः	= अपने जिस	तेषाम्	= उनका		परमात्माको
ज्ञानेन	= ज्ञानके द्वारा	तत्	= वह	प्रकाशयति	= प्रकाशित कर
तत्	= उस	ज्ञानम्	= ज्ञान		देता है।

व्याख्या—‘ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः’—पीछेके श्लोकमें कही बातसे विलक्षण बात बतानेके लिये यहाँ ‘तु’ पदका प्रयोग किया गया है।

पीछेके श्लोकमें जिसको ‘अज्ञानेन’ पदसे कहा था, उसको ही यहाँ ‘तत् ज्ञानम्’ पदसे कहा गया है।

अपनी सत्ताको और शरीरको अलग-अलग मानना ‘ज्ञान’ है और एक मानना ‘अज्ञान’ है।

उत्पत्ति-विनाशशील संसारके किसी अंशमें तो हमने अपनेको रख लिया अर्थात् मैं-पन (अहंता) कर लिया और किसी अंशको अपनेमें रख लिया अर्थात् मेरापन (ममता) कर लिया। अपनी सत्ताका तो निरन्तर अनुभव होता है और मैं-मेरापन बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है; जैसे—पहले मैं बालक था और खिलौने आदि मेरे थे, अब मैं युवा या वृद्ध हूँ और स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि मेरे हैं। इस प्रकार मैं-मेरेपनके परिवर्तनका ज्ञान हमें है, पर अपनी सत्ताके परिवर्तनका ज्ञान हमें नहीं है—यह ज्ञान अर्थात् विवेक है।

मैं-मेरेपनको जडके साथ न मिलाकर साधक अपने विवेकको महत्त्व दे कि मैं-मेरापन जिससे मिलाता हूँ, वह सब बदलता है; परन्तु मैं-मेरा कहलानेवाला मैं (मेरी सत्ता) वही रहता हूँ। जडका बदलना और अभाव तो समझमें आता है, पर स्वयंका बदलना और अभाव किसीकी समझमें नहीं आता; क्योंकि स्वयंमें किंचित् भी परिवर्तन और अभाव कभी होता ही नहीं—इस विवेकके द्वारा मैं-मेरेपनका त्याग कर दे कि

शरीर ‘मैं’ नहीं और बदलनेवाली वस्तु ‘मेरी’ नहीं। यही विवेकके द्वारा अज्ञानका नाश करना है। परिवर्तनशीलके साथ अपरिवर्तनशीलका सम्बन्ध अज्ञानसे अर्थात् विवेकको महत्त्व न देनेसे है। जिसने विवेकको जाग्रत् करके परिवर्तनशील मैं-मेरेपनके सम्बन्धका विच्छेद कर दिया है, उसका वह विवेक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है अर्थात् अनुभव करा देता है।

‘तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्’—विवेकके सर्वथा जाग्रत् होनेपर परिवर्तनशीलकी निवृत्ति हो जाती है। परिवर्तनशीलकी निवृत्ति होनेपर अपने स्वरूपका स्वच्छ बोध हो जाता है, जिसके होते ही सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो जाता है अर्थात् उसके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

यहाँ ‘परम्’ पद परमात्मतत्त्वके लिये प्रयुक्त हुआ है। दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भी परमात्मतत्त्वके लिये ‘परम्’ पद आया है।

‘प्रकाशयति’ पदका तात्पर्य है कि सूर्यका उदय होनेपर नयी वस्तुका निर्माण नहीं होता, प्रत्युत अन्धकारसे ढके जानेके कारण जो वस्तु दिखायी नहीं दे रही थी, वह दीखने लग जाती है। इसी प्रकार परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है, पर अज्ञानके कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा था। विवेकके द्वारा अज्ञान मिटते ही उस स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वका अनुभव होने लग जाता है।

परिशिष्ट भाव—अज्ञानका नाश विवेकसे ही होता है, उद्योगसे नहीं—‘यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य-चेतसः’ (गीता १५। ११)। कारण कि अज्ञानका नाश क्रियासाध्य, परिश्रमसाध्य नहीं है। परिश्रम करनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि शरीरसे सम्बन्ध जोड़े बिना परिश्रम नहीं होता। दूसरी बात, अज्ञानको हटानेका उद्योग करनेसे अज्ञान दृढ़ होता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर ही उसको हटानेका उद्योग करते हैं।

अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी विपरीत भावना (अज्ञान) अपनेमें ही है। अतः विवेकका आदर करनेसे उसका निराकरण हो जाता है।

सम्बन्ध—जिस स्थितिमें सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है, उस स्थितिकी प्राप्तिके लिये आगेके श्लोकमें साधन बताते हैं।

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तदात्मानः	= जिनका मन तदाकार हो रहा है,	परमात्मतत्त्वमें है, (ऐसे)	पापरहित होकर
तद्बुद्ध्यः	= जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है,	तत्परायणाः = परमात्मपरायण साधक	अपुनरावृत्तिम् = अपुनरावृत्ति (परमगति)को
तन्निष्ठाः	= जिनकी स्थिति	ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः = ज्ञानके द्वारा	गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—[परमात्मतत्त्वका अनुभव करनेके लिये दो प्रकारके साधन हैं—एक तो विवेकके द्वारा असत्का त्याग करनेपर सत्में स्वरूप-स्थिति स्वतः हो जाती है और दूसरा, सत्का चिन्तन करते-करते सत्की प्राप्ति हो जाती है। चिन्तनसे सत्की ही प्राप्ति होती है। असत्की प्राप्ति कर्मोंसे होती है, चिन्तनसे नहीं। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु कर्मसे मिलती है और नित्य परिपूर्ण तत्त्व चिन्तनसे मिलता है। चिन्तनसे परमात्मा कैसे प्राप्त होते हैं—इसकी विधि इस श्लोकमें बताते हैं।]

‘तद्बुद्ध्यः’—निश्चय करनेवाली वृत्तिका नाम ‘बुद्धि’ है। साधक पहले बुद्धिसे यह निश्चय करे कि सर्वत्र एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है। संसारके उत्पन्न होनेसे पहले भी परमात्मा थे और संसारके नष्ट होनेके बाद भी परमात्मा रहेंगे। बीचमें भी संसारका जो प्रवाह चल रहा है, उसमें भी परमात्मा वैसे-के-वैसे ही हैं। इस प्रकार परमात्माकी सत्ता-(होनेपन-) में अटल निश्चय होना ही ‘तद्बुद्ध्यः’ पदका तात्पर्य है।

‘तदात्मानः’—यहाँ ‘आत्मा’ शब्द मनका वाचक है। जब बुद्धिमें एक परमात्मतत्त्वका निश्चय हो जाता है, तब मनसे स्वतः-स्वाभाविक परमात्माका ही चिन्तन होने लगता है। सब क्रियाएँ करते समय यह चिन्तन अखण्ड रहता है कि सत्तारूपसे सब जगह एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है। चिन्तनमें संसारकी सत्ता आती ही नहीं।

‘तन्निष्ठाः’—जब साधकके मन और बुद्धि परमात्मामें लग जाते हैं, तब वह हर समय परमात्मामें अपनी (स्वयंकी) स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करता है। जबतक मन-बुद्धि परमात्मामें नहीं लगते अर्थात् मनसे परमात्माका चिन्तन और बुद्धिसे परमात्माका निश्चय नहीं होता, तबतक परमात्मामें अपनी स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी उसका अनुभव नहीं होता।

‘तत्परायणाः’—परमात्मासे अलग अपनी सत्ता न रहना ही परमात्माके परायण होना है। परमात्मामें अपनी स्थितिका अनुभव करनेसे अपनी सत्ता परमात्माकी सत्तामें लीन हो जाती है और स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाता है।

जबतक साधक और साधनकी एकता नहीं होती, तबतक साधन छूटता रहता है, अखण्ड नहीं रहता। जब साधकपन अर्थात् अहंभाव मिट जाता है, तब साधन साध्यरूप ही हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें साधन और साध्य—दोनोंमें नित्य एकता है।

‘ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः’—ज्ञान अर्थात् सत्-असत्के विवेककी वास्तविक जागृति होनेपर असत्की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। असत्के सम्बन्धसे ही पाप-पुण्यरूप कल्मष होता है, जिनसे मनुष्य बँधता है। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पाप-पुण्य मिट जाते हैं।

‘गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्’—असत्का संग ही पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म-) का कारण है—‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य

सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३।२१)। असत्का संग सर्वथा मिटनेपर पुनरावृत्तिका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

जो वस्तु एकदेशीय होती है, उसीका आना-जाना होता है। जो वस्तु सर्वत्र परिपूर्ण है, वह कहाँसे आये और कहाँ जाय? परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, परिस्थिति आदिमें एकरस परिपूर्ण रहते हैं। उनका कहीं आना-जाना नहीं होता। इसलिये जो महापुरुष परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उनका भी कहीं आना-जाना नहीं होता। श्रुति कहती है—

परिशिष्ट भाव—अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी भावना मिटनेपर एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और साधक परमात्मस्वरूप ही हो जाता है, जो कि वास्तवमें स्वतःसिद्ध है। अतः उसके पुनः संसार-बन्धनमें आनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता—'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' (गीता १४।२)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित साधनद्वारा सिद्ध हुए महापुरुषका ज्ञान व्यवहारकालमें कैसा रहता है—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

पण्डिताः	= ज्ञानी महापुरुष	च	= और	शुनि	= कुत्तेमें
विद्याविनय-		श्वपाके	= चाण्डालमें	एव	= भी
सम्पन्ने	= विद्या-	च	= तथा	समदर्शिनः	= समरूप
	विनययुक्त	गवि	= गाय,		परमात्माको
ब्राह्मणे	= ब्राह्मणमें	हस्तिनि	= हाथी (एवं)		देखनेवाले होते हैं।

व्याख्या—'विद्याविनयसम्पन्ने पण्डिताः समदर्शिनः'—यहाँ ब्राह्मणके लिये दो विशेषण दिये गये हैं—विद्यायुक्त और विनययुक्त अर्थात् ऐसा ब्राह्मण जो विद्वान् भी है और विनम्र स्वभाववाला (ब्राह्मणपनेके अभिमानसे रहित) भी है। ब्राह्मण होनेसे वह जातिसे तो ऊँचा है ही, साथ-ही-साथ विद्या और विनयसे भी सम्पन्न है—यह ब्राह्मणत्वकी पूर्णता है। जहाँ पूर्णता होती है, वहाँ अभिमान नहीं रहता। अभिमान वहीं रहता है, जहाँ पूर्णता नहीं होती।

ब्राह्मण और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें व्यवहारकी विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे, पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है, न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीकी ही हो सकती है, न कि कुत्तेकी। इन पाँचों प्राणियोंका उदाहरण देकर भगवान् यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहारकी समता सम्भव न होनेपर

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४।४।६)

'उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

उसके कहलानेवाले शरीरको लेकर ही यह कहा जाता है कि उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वास्तवमें यहाँ 'गच्छन्ति' पदका तात्पर्य है—वास्तविक बोध होना, जिसके होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

भी तत्त्वतः सबमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषोंकी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वपर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि दृष्टि विषम हुए बिना व्यवहारमें भिन्नता कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि अपने शरीरके सब अंगों (मस्तक, पैर, हाथ, गुदा आदि) में हमारी दृष्टि अर्थात् अपनेपन और हितकी भावना समान रहती है, फिर भी हम उनके व्यवहारमें भेद रखते हैं; जैसे—किसीको पैर लग जाय तो क्षमा-याचना करते हैं, पर किसीको हाथ लग जाय तो क्षमा-याचना नहीं करते। प्रणाम मस्तक और हाथोंसे करते हैं, पैरोंसे नहीं। गुदासे हाथ लगनेपर हाथ धोते हैं, हाथसे हाथ लगनेपर नहीं। इतना ही नहीं, एक हाथकी अँगुलियोंमें भी व्यवहारमें भेद रहता है। किसीको तर्जनी अँगुली दिखाने और अँगूठा दिखानेका भेद तो सब जानते ही हैं। इस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके व्यवहारमें तो भेद होता है, पर आत्मीयतामें भेद नहीं होता। इसलिये शरीरके किसी भी

पीड़ित अंगकी उपेक्षा नहीं होती। व्यवहारमें भेद होनेपर भी पीड़ा मिटानेमें हम समानताका व्यवहार करते हैं। शरीरके सभी अंगोंके सुख-दुःखमें हमारा एक ही भाव रहता है (गीता—छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। इसी प्रकार प्राणियोंमें खान-पान, गुण, आचरण, जाति आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषोंके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परन्तु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदिके भावमें कभी फर्क नहीं पड़ता। उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदिका सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीरके किसी अंगका दुःख दूर करनेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है, ऐसे ही पता लगनेपर दूसरे प्राणीका दुःख दूर करनेकी और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि भगवान्ने यहाँ महापुरुषोंको समदर्शी कहा है, न कि समवर्ती। गीतामें दूसरी जगह भी सम देखनेकी या समबुद्धिकी ही बात आयी है, जैसे—‘समबुद्धिर्विशिष्यते’ (६। ९); ‘सर्वत्र समदर्शनः’ (६। २९); ‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति’ (६। ३२); ‘सर्वत्र समबुद्धयः’ (१२। ४); ‘समं सर्वेषु भूतेषु च यः पश्यति स पश्यति’ (१३। २७); और ‘समं पश्यन् हि सर्वत्र’ (१३। २८)।

श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।

(तत्त्वोपदेश)

भावमें ही सदा अद्वैत होना चाहिये, क्रिया (व्यवहार) में कहीं नहीं।

समता-सम्बन्धी विशेष बात

आजकल समतापर विशेष चर्चा चल रही है। सबके साथ समताका बर्ताव करो—ऐसा प्रचार किया जा रहा है। परन्तु वास्तवमें समता किसे कहते हैं और वह कब आती है—इसे समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। जिनका मन समतामें स्थित हो जाता है, वे यहाँ जीते-जी ही संसारपर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्माका अनुभव कर लेते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। यह समता तब आती है, जब दूसरोंका दुःख अपना दुःख और दूसरोंका सुख

अपना सुख हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि ‘हे अर्जुन! जो पुरुष अपने शरीरकी तरह मेरेको सब जगह सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सब जगह सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है (छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)।’

जैसे शरीरके किसी भी अंगमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। सन्तोंके लक्षणोंमें भी आया है—

‘पर दुख दुख सुख सुख देखे पर’ (मानस ७। ३८। १)

जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। परन्तु जब हृदयसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे? उनको आराम कैसे हो? उनको लाभ कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो? तब समता स्वतः आ जायगी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम अपने घरसे करना चाहिये। हृदयमें ऐसा भाव हो कि किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे, किसीका कभी अनिष्ट न हो। चाहे मैं कितना ही कष्ट पाऊँ, पर मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिको सुख होना चाहिये। घरवालोंको सुख पहुँचानेसे अपने हृदयमें शान्ति आयेगी ही। जहाँ अपने घरका भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्दकी लहरें आने लग जायँगी। परन्तु ममतापूर्वक सुख पहुँचानेसे हमारी उन्नति नहीं होगी। जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

चित्रकूटमें लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताकी सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

(मानस २। १४२। १)

अर्थात् लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताजीकी वैसे ही सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरकी सेवा करता है। अपने शरीरकी सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना समझदारी नहीं है। अपने शरीरकी सेवा तो पशु भी करते हैं। जैसे, बँदरीकी अपने बच्चेपर इतनी ममता रहती है कि उसके मरनेके बाद भी वह उसके शरीरको पकड़े हुए चलती है, छोड़ती नहीं। परन्तु जब कोई वस्तु खानेके लिये मिल

जाती है, तब वह स्वयं तो खा लेती है, पर बच्चेको नहीं खाने देती। बच्चा खानेकी चेष्टा करता है तो उसे ऐसी घुड़की मारती है कि वह चीं-चीं करते भाग जाता है। अतः ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है।

जिससे हमें कुछ लेना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्तिके साथ भी हम प्रेमपूर्वक अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करें, जिससे उसका हित हो। कोई व्यक्ति मार्गमें भटक गया है, उसे मार्गका पता नहीं है और वह हमसे पूछता है। हम उसे बड़ी प्रसन्नतासे मार्ग बतायें अथवा कुछ दूरतक उसके साथ चलें तो हमें हृदयमें प्रत्यक्ष सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। परन्तु यदि हम जानते हुए भी उसे मार्ग नहीं बतायेंगे, तो हमारे हृदयमें सुख नहीं होगा। यह अनुभवकी बात है, कोई करके देख ले। किसीको प्यास लगी है तो उसे बता दे कि भाई, इधर आओ, इधर ठण्डा जल है। फिर हम अपना हृदय देखें। हमारे हृदयमें प्रसन्नता आयेगी, सुख आयेगा। यह सुख हमारा कल्याण करनेवाला है। दूसरा दुःख पाये, पर मैं सुख ले लूँ—यह सुख पतन करनेवाला है। इससे न तो व्यवहारमें हमारी उन्नति होगी और न परमार्थमें। हम सत्संगका आयोजन करते हैं। उसमें आनेवाले व्यक्तियोंके बैठनेकी व्यवस्था करते हैं तो उनसे प्रेमपूर्वक कहें कि आइये, यहाँ बैठिये। उन्हें वहाँ बैठायें, जहाँसे वे ठीक तरहसे सुन सकें। वे आरामसे कैसे बैठ सकें? ठीक तरहसे कैसे सुन सकें—ऐसा भाव रखकर उनसे बर्ताव करें। ऐसा करनेसे हमारे हृदयमें प्रत्यक्ष शान्ति आयेगी। पर वहीं हुक्म चलायें कि क्या करते हो? इधर बैठो, इधर नहीं, तो बात वही होनेपर भी हृदयमें शान्ति नहीं आयेगी। भीतरमें जो अभिमान है, वह दूसरोंको चुभेगा, बुरा लगेगा। ऐसा बर्ताव करें और चाहें कि समता आ जाय, तो वह कभी आयेगी नहीं।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उन्हें भगवान् प्राप्त हो जाते हैं—‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः’ (गीता १२। ४)। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं। आस्तिक-से-आस्तिक हो अथवा नास्तिक-से-नास्तिक, दोनोंके लिये भगवान्का विधान बराबर है। एक व्यक्ति बड़ा आस्तिक है, भगवान्को बहुत मानता है और उन्हें

पानेके लिये साधन-भजन करता है और एक व्यक्ति ऐसा नास्तिक है कि संसारसे भगवान्का खाता उठा देना चाहता है। भगवान्को माननेसे और भगवान्के कारण ही दुनिया दुःख पा रही है, भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं—ऐसा उसके हृदयमें भाव है और ऐसा ही प्रचार करता है। ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिकी भी प्यास जल मिटाता है और यही जल आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिकी भी प्यास मिटाता है। जलमें यह भेद नहीं है कि वह आस्तिककी प्यास ठीक तरहसे शान्त करे और नास्तिककी प्यास शान्त न करे। वह समान रीतिसे सबकी प्यास मिटाता है। ऐसे ही सूर्य समान रीतिसे सबको प्रकाश देता है, हवा समान रीतिसे सबको श्वास लेने देती है, पृथ्वी समान रीतिसे सबको रहनेका स्थान देती है। इस प्रकार भगवान्की रची हुई प्रत्येक वस्तु सबको समान रीतिसे मिलती है।

समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह) का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती। चाहे महात्मा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे पशु हो, चाहे देवता हो, मौत सबकी बराबर होती है। इसलिये यमराजको ‘समवर्ती’ (समान बर्ताव करनेवाला) कहा गया है*। अतः जो समान बर्ताव करते हैं, वे भी यमराज हैं।

पशुओंमें भी समान बर्ताव पाया जाता है। कुत्ता ब्राह्मणकी रसोईमें जाता है तो पैर धोकर नहीं जाता। ब्राह्मणकी रसोई हो अथवा हरिजनकी, वह तो जैसा है, वैसा ही चला जाता है; क्योंकि यह उसकी समता है। पर मनुष्यके लिये यह समता नहीं है, प्रत्युत महान् पशुता है। समता तो यह है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे, दूसरेको सुख कैसे हो, आराम कैसे हो? ऐसी समता रखते हुए बर्तावमें पवित्रता, निर्मलता रखनी चाहिये। बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परन्तु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है।

* ‘समवर्ती परेतारद्’ (अमरकोष १। १। ५८)

वर्णोंमें ब्राह्मण ऊँचे हैं और शूद्र नीचे हैं—ऐसा शास्त्रोंका सिद्धान्त नहीं है। ब्राह्मण उपदेशके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा, वैश्य धन-सम्पत्ति, आवश्यक वस्तुओंके द्वारा और शूद्र शरीरसे परिश्रम करके सभी वर्णोंकी सेवा करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अपने कर्तव्यपालनमें परिश्रम न करें, प्रत्युत अपने कर्तव्यपालनमें समान रीतिसे सभी परिश्रम करें। जिसके पास जिस प्रकारकी शक्ति, विद्या, वस्तु, कला आदि है, उसके द्वारा चारों ही वर्ण चारों वर्णोंकी सेवा करें, उनके कार्योंमें सहायक बनें। परन्तु चारों वर्णोंकी सेवा करनेमें भेदभाव न रखें।

आजकल वर्णाश्रमको मिटाकर पार्टीबाजी हो रही है। आज वर्णाश्रममें इतनी लड़ाई नहीं है, जितनी लड़ाई पार्टीबाजीमें हो रही है—यह प्रत्यक्ष बात है। पहले लोग चारों वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर अनेक पार्टियाँ बनायी जा रही हैं, जिससे संघर्षको बढ़ावा मिल रहा है। गाँवोंमें सब लोगोंको पानी मिलना कठिन हो रहा है। जिनके अधिकारमें कुआँ है, वे कहते हैं कि तुमने उस पार्टीको वोट दिया है, इसलिये तुम यहाँसे पानी नहीं भर सकते। माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं। भीतरमें वैर बाँध लिया कि तुम उस पार्टीके और हम इस पार्टीके। कितना महान् अनर्थ हो रहा है!

यदि समता लानी हो तो दूसरा व्यक्ति किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, मत आदिका क्यों न हो, उसे सुख देना है, उसका दुःख दूर करना है और उसका वास्तविक हित करना है। उनमें यह भेद हो सकता है कि आप राम-राम कहते हैं, हम कृष्ण-कृष्ण कहेंगे; आप वैष्णव हैं, हम शैव हैं; आप मुसलमान हैं, हम हिन्दू हैं, इत्यादि। परन्तु इससे कोई बाधा नहीं आती है। बाधा तब आती है, जब यह भाव रहता है कि वे हमारी पार्टीके नहीं हैं, इसलिये उनको चाहे दुःख होता रहे, पर हमें और हमारी पार्टीवालोंको सुख हो जाय। यह भाव महान् पतन करनेवाला है। इसलिये कभी किसी वर्ण आदिके मनुष्योंको कष्ट हो तो उनके हितकी चिन्ता समान रीतिसे होनी

चाहिये और उन्हें सुख हो तो उससे प्रसन्नता समान रीतिसे होनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मणों और हरिजनोंमें संघर्ष हुआ। उसमें हरिजनोंकी हार और ब्राह्मणोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें प्रसन्नता हो अथवा ब्राह्मणोंकी हार और हरिजनोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें दुःख हो, तो यह विषमता है, जो बहुत हानिकारक है। ब्राह्मणों और हरिजनों—दोनोंके प्रति ही हमारे मनमें हितकी समान भावना होनी चाहिये। किसीका भी अहित हमें सहन न हो। किसीका भी दुःख हमें समान रीतिसे खटकना चाहिये। यदि ब्राह्मण दुःखी है तो उसे सुख पहुँचायें और यदि हरिजन दुःखी है तो उसे सुख न पहुँचायें—ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिये, प्रत्युत हरिजनको सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा होनी चाहिये। हरिजनोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी ब्राह्मणोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिको लेकर पक्षपात नहीं होना चाहिये। सभीके प्रति समान रीतिसे हितका बर्ताव होना चाहिये। यदि कोई निम्नवर्ग है और उसे हम ऊँचा उठाना चाहते हों, तो उस वर्गके लोगोंके भावों और आचरणोंको शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिये; उनके पास वस्तुओंकी कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये; उनकी सहायता करनी चाहिये; परन्तु उन्हें उकसाकर उनके हृदयोंमें दूसरे वर्गके प्रति ईर्ष्या और द्वेषके भाव भर देना अत्यन्त ही अहितकर, घातक है तथा लोक-परलोकमें पतन करनेवाला है। कारण कि ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि मनुष्यका महान् पतन करनेवाले हैं। यदि ऐसे भाव ब्राह्मणोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा और हरिजनोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा। उत्थान तो सद्भावों, सद्गुणों, सदाचारोंसे ही होता है।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि निर्वाहकी वस्तुओंकी जिनके पास कमी है, उन्हें ये वस्तुएँ विशेषतासे देनी चाहिये, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिके क्यों न हों। सबका जीवनयापन सुखपूर्वक होना चाहिये। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका हित हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो*—ऐसा भाव रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना ही समता है, जो सम्पूर्ण मनुष्योंके लिये हितकर है।

परिशिष्ट भाव—ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्ता—ये सभी तो हरदम बदल रहे हैं और अभावमें जा रहे हैं, पर उनमें रहनेवाला जो भावरूप सत्-तत्त्व है, वह कभी बदलता नहीं, प्रत्युत नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

है। ज्ञानीलोग उस सत्-तत्त्वको ही देखते हैं। जैसे चींटी रेतमें मिली हुई चीनीके दानेको पकड़कर निकाल लेती है, ऐसे ही ज्ञानियोंकी विवेकवती सूक्ष्म दृष्टि असत् संसारमें व्याप्त सत्-तत्त्वको पकड़ लेती है। तात्पर्य है कि ब्राह्मण हो या चाण्डाल, गाय हो या कुत्ता, हाथी हो या चींटी, विषम-से-विषम प्राणियोंमें भी उनकी दृष्टि सदा सम ही रहती है। व्यवहार विषम (यथायोग्य) होते हुए भी उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

सम्बन्ध—अब भगवान् पूर्वश्लोकमें वर्णित समताकी विशेष महिमा कहते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

येषाम्	= जिनका	एव	= ही	ब्रह्म	= ब्रह्म
मनः	= अन्तःकरण	सर्गः	= सम्पूर्ण संसारको	निर्दोषम्	= निर्दोष (और)
साम्ये	= समतामें	जितः	= जीत लिया है	समम्	= सम है,
स्थितम्	= स्थित है,		अर्थात् वे	तस्मात्	= इसलिये
तैः	= उन्होंने		जीवन्मुक्त	ते	= वे
इह	= इस जीवित- अवस्थामें	हि	= क्योंकि	ब्रह्मणि	= ब्रह्ममें (ही)
				स्थिताः	= स्थित हैं।

व्याख्या—‘येषां साम्ये स्थितं मनः’—परमात्मतत्त्व अथवा स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होनेपर जब मन-बुद्धिमें राग-द्वेष, कामना, विषमता आदिका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मन-बुद्धिमें स्वतः-स्वाभाविक समता आ जाती है, लानी नहीं पड़ती। बाहरसे देखनेपर महापुरुष और साधारण पुरुषमें खाना-पीना, चलना-फिरना आदि व्यवहार एक-सा ही दीखता है, पर महापुरुषोंके अन्तःकरणमें निरन्तर समता, निर्दोषता, शान्ति आदि रहती है और साधारण पुरुषोंके अन्तःकरणमें विषमता, दोष, अशान्ति आदि रहती है।

जैसे, पूर्वमें और पश्चिममें—दोनों ओर पर्वत हों, तो पूर्वमें सूर्यका उदय होना नहीं दीखता; परन्तु पश्चिममें स्थित पर्वतकी चोटीपर प्रकाश दीखनेसे सूर्यके उदय होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। कारण कि सूर्यका उदय हुए बिना पश्चिमके पर्वतपर प्रकाश दीखना सम्भव ही नहीं। ऐसे ही जिनके मन-बुद्धिपर मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख आदिका कोई असर नहीं पड़ता तथा जिनके मन-बुद्धि राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हैं, उनकी स्वरूपमें स्वाभाविक स्थिति अवश्य होती है। कारण कि स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिके बिना मन-बुद्धिमें अटल और एकरस समताका रहना सम्भव ही नहीं है।

‘इहैव तैर्जितः सर्गः’—यहाँ ‘तैः’ पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि सभी मनुष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति

कर सकते हैं और सम्पूर्ण संसारपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

‘इह एव’ पदोंका तात्पर्य है कि मनुष्य जीते-जी वर्तमानमें ही, यहीं संसारको जीत सकता है अर्थात् संसारसे मुक्त हो सकता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब ‘पर’ हैं और जो इनके अधीन रहता है, उसे ‘पराधीन’ कहते हैं। इन शरीरादि वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि होना तथा इनकी आवश्यकताका अनुभव करना अर्थात् इनकी कामना करना ही इनके अधीन होना है। पराधीन पुरुष ही वास्तवमें पराजित (हारा हुआ) है। जबतक पराधीनता नहीं छूटती, तबतक वह पराजित ही रहता है।

जिसके मनमें सांसारिक वस्तुओंकी कामना है, वह मनुष्य अगर दूसरे प्राणी, राज्य आदिपर विजय प्राप्त कर ले तो भी वह वास्तवमें पराजित ही है। कारण कि वह उन पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि रखता है और अपने जीवनको उनके अधीन मानता है। शरीरसे विजय तो पशु भी प्राप्त कर लेता है, पर वास्तविक विजय हृदयसे वस्तुकी अधीनता दूर होनेपर ही प्राप्त होती है।

पराजित व्यक्ति ही दूसरेको पराजित करना चाहता है, दूसरेको अपने अधीन बनाना चाहता है। वास्तवमें अपनेको पराजित किये बिना कोई दूसरेको पराजित कर ही नहीं

सकता; जैसे—कोई राजा या विद्वान् किसी दूसरेपर विजय प्राप्त करना चाहता है तो उसे सबसे पहले अपनी सेना, सामर्थ्य, बुद्धि, विद्या आदिका सहारा लेना ही पड़ता है।

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य पराधीन हो जाता है। यह पराधीनता कामनाकी पूर्ति न होनेपर अथवा पूर्ति होनेपर—दोनों ही अवस्थाओंमें ज्यों-की-त्यों रहती है। कामनाकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य वस्तुके अभावके कारण पराधीनताका अनुभव करता है और कामनाकी पूर्ति होनेपर अर्थात् वस्तुके मिलनेपर वह उस वस्तुके पराधीन हो जाता है; क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्र 'पर' है। कामनाकी पूर्ति न होनेपर तो मनुष्यको पराधीनताका अनुभव होता है, पर कामनाकी पूर्ति होनेपर बुद्धिमें ऐसा अंधेरा छा जाता है कि पराधीन रहते हुए भी मनुष्यको पराधीनताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत स्वाधीनताका अनुभव होता है!

ज्ञानी महापुरुषमें कामनाका सर्वथा अभाव होनेसे वह पूर्णतः स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन पुरुष ही विजयी होता है। परन्तु स्वाधीन पुरुषके मनमें कभी किसीको पराजित करनेका भाव नहीं आता। वह संसारकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकताका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत संसार ही उसकी आवश्यकताका अनुभव करता है।

जिसने संसारको जीत लिया है, ऐसे समदर्शी महापुरुषको संसारका बड़ा-से-बड़ा सुख (प्रलोभन) भी आकृष्ट नहीं कर सकता और बड़ा-से-बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

उसके मनमें संसारके किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी किंचिन्मात्र भी कामना, वासना, स्पृहा, तृष्णा आदि नहीं रहती। यद्यपि उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है तथा उसके अनुसार यथोचित चेष्टा भी होती है, तथापि अनुकूलता-प्रतिकूलताका उसके अन्तःकरणपर कोई असर नहीं पड़ता।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—परमात्मतत्त्वमें दोष, विकार या विषमता है ही नहीं। जितने भी दोष या विषमताएँ आती हैं, वे सब प्रकृतिसे रागपूर्वक सम्बन्ध माननेसे ही आती हैं। परमात्मतत्त्व प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वथा निर्लिप्त है, इसलिये उसमें किंचिन्मात्र भी दोष या विषमता नहीं है।

'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'—परमात्मतत्त्व निर्दोष

और सम है, इसलिये जिन महापुरुषोंका अन्तःकरण निर्दोष और सम हो गया है, वे परमात्मतत्त्वमें ही स्थित हैं।

असत्के संगसे ही सम्पूर्ण दोषों और विषमताओंकी उत्पत्ति होती है। संसार असत् है। असत् उसे कहते हैं, जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मूलमें जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। असत्से सम्बन्ध (तादात्म्य) रहते हुए दोषों और विषमताओंसे बचना असम्भव है। महापुरुषोंके अन्तःकरणमें असत्का महत्त्व न रहनेसे उनपर असत्का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। असत्का कोई प्रभाव न पड़नेसे उनका अन्तःकरण निर्दोष और सम हो जाता है। निर्दोष और सम होनेसे उनकी परमात्मतत्त्वमें स्वतः-स्वाभाविक स्थिति हो जाती है, जो कि पहलेसे ही है। जैसे जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि अवश्य है; क्योंकि अग्निके बिना धुआँ सम्भव ही नहीं, ऐसे ही जिनके अन्तःकरणमें समता है, वे अवश्य ही परमात्मतत्त्वमें स्थित हैं; क्योंकि परमात्मतत्त्वमें स्थिति हुए बिना पूर्ण समता आनी सम्भव ही नहीं।

अपनी (स्वयंकी) स्थिति परमात्मतत्त्वमें अथवा समतामें होनेके कारण ही अन्तःकरणमें समता आती है। इसलिये अन्तःकरणमें समता आनेपर ही उन महापुरुषोंकी यह पहचान होती है कि वे परमात्मतत्त्वमें अथवा समतामें स्थित हैं। इसी समताको गीताने 'योग' कहा है—'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८), और इसकी प्राप्तिको ही गीता मनुष्य-जन्मकी पूर्णता मानती है।

ज्ञानयोगका यह प्रकरण तेरहवें श्लोकसे चला है। पंद्रहवें श्लोकके अन्तमें आये 'जन्तवः' पदसे बहुवचनका प्रयोग आरम्भ हुआ है, जो इस उन्नीसवें श्लोकतक चला है। सबमें बहुवचन आनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य मोहित हो रहे थे, वे सब-के-सब परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत श्लोकमें 'ब्रह्मणि' पदमें एकवचन आया है, जिसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण मनुष्योंको एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। मुक्ति चाहे ब्राह्मणकी हो अथवा चाण्डालकी, दोनोंको एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। भेद केवल शरीरोंको लेकर है, जो उपादेय है। तत्त्वको लेकर कोई भेद नहीं है। पहले जितने सनकादिक महात्मा हुए हैं, उनको जो तत्त्व प्राप्त हुआ है, वही तत्त्व आज भी प्राप्त होता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ आये 'मन' शब्दको बुद्धिका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि समतामें मन स्थित नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि ही स्थित होती है। मन ध्यानमें स्थित होता है। यह प्रकरण भी स्थिरबुद्धिका है। मनकी स्थिरता केवल

ध्यानावस्थामें रहती है, व्यवहारमें नहीं; परन्तु बुद्धिकी स्थिरता निरन्तर रहती है। कल्याण मनकी स्थिरतामें नहीं होता, प्रत्युत बुद्धिकी स्थिरतासे होता है। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ पैदा होती हैं। अतः मनकी स्थिरता इतनी ऊँची नहीं है, जितनी बुद्धिकी स्थिरता। भगवान्ने भी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि) होनेकी महिमा कही है। अगले श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है—‘स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः’।

साधक भूलसे अपनेको तत्त्वज्ञ न मान ले, इसलिये यह पहचान बतायी है कि अगर बुद्धिमें समता नहीं आयी है तो समझ लेना चाहिये कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, केवल वहम हुआ है! बुद्धिकी समताका स्वरूप है— राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि न होना। तत्त्वप्राप्ति होनेपर बुद्धिमें निरन्तर समता रहती है। इस समतासे बुद्धिका कभी व्युत्थान अथवा वियोग नहीं होता।

जिनकी बुद्धि समतामें स्थित है, उनमें राग-द्वेष नहीं रहते। उनकी यह समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है कि सब कुछ एक परमात्मा ही हैं। जब एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे? जब एक ही सत्ता अटल अनुभवमें आ जाती है, तब कोई कामना नहीं रहती और अशान्ति भी नहीं रहती।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस स्थितिका वर्णन हुआ है, उसकी प्राप्तिका साधन तथा सिद्धके लक्षणोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रियम्	= (जो) प्रियको	प्राप्य	= प्राप्त होकर	असम्मूढः	= मूढतारहित (ज्ञानी)
प्राप्य	= प्राप्त होकर	न, उद्विजेत्	= उद्विग्न न हो,	ब्रह्मवित्	= (तथा) ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य
न, प्रहृष्येत्	= हर्षित न हो	स्थिरबुद्धिः	= (वह) स्थिरबुद्धिवाला,	ब्रह्मणि	= ब्रह्ममें
च	= और			स्थितः	= स्थित है।
अप्रियम्	= अप्रियको				

व्याख्या—‘न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्’—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, शास्त्र आदिके अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होना ही ‘प्रिय’ को प्राप्त होना है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, शास्त्र आदिके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होना ही ‘अप्रिय’ को प्राप्त होना है।

प्रिय और अप्रियको प्राप्त होनेपर भी साधकके अन्तःकरणमें हर्ष और शोक नहीं होने चाहिये। यहाँ प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि साधकके हृदयमें अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी-पदार्थोंके प्रति राग या द्वेष है, प्रत्युत यहाँ उन प्राणी-पदार्थोंकी प्राप्ति के ज्ञानको ही प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति कहा गया है। प्रिय या अप्रियकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिका ज्ञान होनेमें कोई दोष नहीं है। अन्तःकरणमें उनकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिका असर पड़ना अर्थात् हर्ष-शोकादि विकार होना ही दोष है।

प्रियता और अप्रियताका ज्ञान तो अन्तःकरणमें होता है, पर हर्षित और उद्विग्न कर्ता होता है। अहंकारसे मोहित

अन्तःकरणवाला पुरुष प्रकृतिके करणोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको लेकर ‘मैं कर्ता हूँ’—ऐसा मान लेता है तथा हर्षित और उद्विग्न होता रहता है। परन्तु जिसका मोह दूर हो गया है, जो तत्त्ववेत्ता है, वह ‘गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं’—ऐसा जानकर अपनेमें (स्वरूपमें) वास्तविक अकर्तृत्वका अनुभव करता है (गीता—तीसरे अध्यायका अट्टाईसवाँ श्लोक)। स्वरूपका हर्षित और उद्विग्न होना सम्भव ही नहीं है।

‘स्थिरबुद्धिः’—स्वरूपका ज्ञान स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भाव नहीं रहता। यह ज्ञान करण-निरपेक्ष होता है अर्थात् इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी करणकी अपेक्षा नहीं होती। करणोंसे होनेवाला ज्ञान स्थिर तथा सन्देहरहित नहीं होता, इसलिये वह अल्पज्ञान है। परन्तु स्वयं-(अपने होनेपर-) का ज्ञान स्वयंको ही होनेसे उसमें कभी परिवर्तन या सन्देह नहीं होता। जिस महापुरुषको ऐसे करण-निरपेक्ष ज्ञानका अनुभव हो गया है, उसकी कही जानेवाली बुद्धिमें यह ज्ञान इतनी दृढ़तासे उतर आता है कि उसमें कभी

विकल्प, सन्देह, विपरीत भावना, असम्भावना आदि होती ही नहीं। इसलिये उसे 'स्थिरबुद्धिः' कहा गया है।

'असम्मूढः'—जो परमात्मतत्त्व सदा-सर्वत्र विद्यमान है, उसका अनुभव न होना और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस उत्पत्ति-विनाशशील संसारको सत्य मानना— ऐसी मूढ़ता साधारण मनुष्यमें रहती है। इस मूढ़ताका जिसमें सर्वथा अभाव हो गया है, उसे ही यहाँ 'असम्मूढः' कहा गया है।

'ब्रह्मवित्'—परमात्मासे अलग होकर परमात्माका अनुभव नहीं होता। परमात्माका अनुभव होनेमें अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य—यह त्रिपुटी नहीं रहती, प्रत्युत त्रिपुटीरहित अनुभवमात्र (ज्ञानमात्र) रहता है। वास्तवमें ब्रह्मको जाननेवाला कौन है—यह बताया नहीं जा सकता। कारण कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है*, इसलिये वह अपनेको ब्रह्मवित् मानता ही नहीं अर्थात् उसमें 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—सुषुप्ति और मूर्च्छामें मनुष्यका शरीरसे अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है अर्थात् मन अविद्यामें लीन होता है; अतः इन अवस्थाओंमें मनुष्यको प्रिय और अप्रियका, शारीरिक पीड़ा आदिका ज्ञान ही नहीं होता। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये उसको प्रिय और अप्रियका, शरीरकी पीड़ा आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनसे वह हर्षित-उद्विग्न, सुखी-दुःखी नहीं होता। उसकी शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी परवशता मिट जाती है।

ब्रह्मको जानना और उसमें स्थित होना—दोनों एक ही हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव किस प्रकार होता है, इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्यस्पर्शेषु	= बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध) में	आत्मनि	= अन्तःकरणमें	ब्रह्मयोगयुक्तात्मा	= ब्रह्ममें
असक्तात्मा	= आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक	यत्	= जो		अभिन्नभावसे
		सुखम्	= (सात्त्विक) सुख है, (उसको)	स्थित मनुष्य	
		विन्दति	= प्राप्त होता है। (फिर)	अक्षयम्	= अक्षय
		सः	= वह	सुखम्	= सुखका
				अश्नुते	= अनुभव करता है।

व्याख्या—'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'—परमात्माके अतिरिक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिमें तथा शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके संयोगजन्य सुखमें जिसकी आसक्ति मिट गयी है, ऐसे साधकके लिये यहाँ ये पद

'ब्रह्मणि स्थितः'—वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी तत्त्वसे नित्य-निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित हैं; परन्तु भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ही मानते रहनेके कारण मनुष्यको ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं होता। जिसे ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो गया है, ऐसे महापुरुषके लिये यहाँ 'ब्रह्मणि स्थितः' पदोंका प्रयोग हुआ है। ऐसे महापुरुषको प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता रहता है।

यद्यपि एक वस्तुकी दूसरी वस्तुमें स्थिति होती है, तथापि ब्रह्ममें स्थिति इस प्रकारकी नहीं है। कारण कि ब्रह्मका अनुभव होनेपर सर्वत्र एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है। उसमें स्थिति माननेवाला दूसरा कोई रहता ही नहीं। जबतक कोई ब्रह्ममें अपनी स्थिति मानता है, तबतक ब्रह्मकी वास्तविक अनुभूतिमें कमी है, परिच्छिन्नता है।

यद्यपि एक वस्तुकी दूसरी वस्तुमें स्थिति होती है, तथापि ब्रह्ममें स्थिति इस प्रकारकी नहीं है। कारण कि ब्रह्मका अनुभव होनेपर सर्वत्र एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है। उसमें स्थिति माननेवाला दूसरा कोई रहता ही नहीं। जबतक कोई ब्रह्ममें अपनी स्थिति मानता है, तबतक ब्रह्मकी वास्तविक अनुभूतिमें कमी है, परिच्छिन्नता है।

* 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक० ३।२।९); 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४।४।६)

छूट जाते हैं।

पूर्वश्लोकमें वर्णित 'प्रियको प्राप्त होकर हर्षित और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होना चाहिये'—ऐसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये बाह्यस्पर्शमें आसक्तिरहित होना आवश्यक है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्रका नाम 'बाह्यस्पर्श' है, चाहे उसका सम्बन्ध बाहरसे हो या अन्तःकरणसे। जबतक बाह्यस्पर्शमें आसक्ति रहती है, तबतक अपने स्वरूपका अनुभव नहीं होता। बाह्यस्पर्श निरन्तर बदलता रहता है, पर आसक्तिके कारण उसके बदलनेपर दृष्टि नहीं जाती और उसमें सुखका अनुभव होता है। पदार्थोंको अपरिवर्तनशील, स्थिर माननेसे ही मनुष्य उनसे सुख लेता है। परन्तु वास्तवमें उन पदार्थोंमें सुख नहीं है। सुख पदार्थोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इसीलिये सुषुप्तिमें जब पदार्थोंके सम्बन्धकी विस्मृति हो जाती है, तब सुखका अनुभव होता है।

वहम तो यह है कि पदार्थोंके बिना मनुष्य जी नहीं सकता, पर वास्तवमें देखा जाय तो बाह्य पदार्थोंके वियोगके बिना मनुष्य जी ही नहीं सकता। इसीलिये वह नींद लेता है; क्योंकि नींदमें पदार्थोंको भूल जाते हैं। पदार्थोंको भूलनेपर भी नींदसे जो सुख, ताजगी, बल, नीरोगता, निश्चिन्तता आदि मिलती है, वह जाग्रत्में पदार्थोंके संयोगसे नहीं मिल सकती। इसलिये जाग्रत्में मनुष्यको विश्राम पानेकी, प्राणी-पदार्थोंसे अलग होनेकी इच्छा होती है। वह नींदको अत्यन्त आवश्यक समझता है; क्योंकि वास्तवमें पदार्थोंके वियोगसे ही मनुष्यको जीवन मिलता है।

नींद लेते समय दो बातें होती हैं—एक तो मनुष्य बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता है और दूसरी, उसमें यह भाव रहता है कि नींद लेनेके बाद अमुक कार्य करना है। इन दोनों बातोंमें पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद चाहना तो स्वयंकी इच्छा है, जो सदा एक ही रहती है; परन्तु कार्य करनेका भाव बदलता रहता है। कार्य करनेका भाव प्रबल रहनेके कारण मनुष्यकी दृष्टि पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी तरफ नहीं जाती। वह पदार्थोंका सम्बन्ध रखते हुए ही नींद लेता है और जागता है।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सम्बन्धी तो नहीं रहता, पर सम्बन्ध रह जाता है! इसका कारण यह है कि स्वयं (अविनाशी चेतन) जिस सम्बन्धको अपनेमें मान लेता है, वह मिटता नहीं। इस माने हुए सम्बन्धको

मिटानेका उपाय है—अपनेमें सम्बन्धको न माने। कारण कि प्राणी-पदार्थोंसे सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल माना हुआ है। मानी हुई बात न माननेपर टिक नहीं सकती और मान्यताको पकड़े रहनेपर किसी अन्य साधनसे मिट नहीं सकती। इसलिये माने हुए सम्बन्धकी मान्यताको वर्तमानमें ही मिटा देना चाहिये। फिर मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

बाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध अवास्तविक है, पर परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है। मनुष्य सुखकी इच्छासे बाह्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, पर परिणाममें उसे दुःख-ही-दुःख प्राप्त होता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अनुभव करनेसे बाह्य पदार्थोंकी आसक्ति मिट जाती है।

'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'—बाह्य पदार्थोंकी आसक्ति मिटनेपर अन्तःकरणमें सात्त्विक सुखका अनुभव हो जाता है। बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे होनेवाला सुख राजस होता है। जबतक मनुष्य राजस सुख लेता रहता है, तबतक सात्त्विक सुखका अनुभव नहीं होता। राजस सुखमें आसक्तिरहित होनेसे ही सात्त्विक सुखका अनुभव होता है।

'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'—संसारसे राग मिटते ही ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्वतः स्थिति हो जाती है। जैसे अन्धकारका नाश होना और प्रकाश होना—दोनों एक साथ ही होते हैं, फिर भी पहले अन्धकारका नाश होना और फिर प्रकाश होना माना जाता है। ऐसे ही रागका मिटना और ब्रह्ममें स्थित होना—दोनों एक साथ होनेपर भी पहले रागका नाश 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' और फिर ब्रह्ममें स्थिति 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' मानी जाती है। जैसे तेरहवें अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-) के द्वारा अपनेको क्षेत्र-(शरीर-)से सर्वथा अलग अनुभव करनेकी बात आयी है और फिर दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञके द्वारा अपनेको परमात्मतत्त्वसे सर्वथा अभिन्न अनुभव करनेकी बात आयी है। ऐसे ही यहाँ पहले 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' पदसे शरीर-संसारसे अपनेको सर्वथा अलग अनुभव करनेकी बात बताकर फिर 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' पदसे अपनेको परमात्मतत्त्वसे सर्वथा अभिन्न अनुभव करनेकी बात बतायी गयी है।

भोगोंसे विरक्ति होकर सात्त्विक सुख मिलनेके बाद 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ', 'मैं निर्विकार हूँ', 'मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार 'अहम्' का सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उसकी निवृत्तिके लिये एकमात्र परमात्मतत्त्वसे अभिन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। कारण कि

परमात्मतत्त्वसे सर्वथा एक हुए बिना अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व (परिच्छिन्नता या एकदेशीयता) का सर्वथा अभाव नहीं होता।

‘सुखमक्षयमश्नुते’—जबतक साधक सात्त्विक सुखका उपभोग करता रहता है, तबतक उसमें सूक्ष्म ‘अहम्’, सूक्ष्म परिच्छिन्नता रहती है। सात्त्विक सुखका भी उपभोग न करनेसे ‘अहम्’ का सर्वथा अभाव हो जाता है और साधकको परमात्मस्वरूप, चिन्मय और नित्य एकरस रहनेवाले अविनाशी सुखका अनुभव हो जाता है। इसी अक्षय सुखको ‘आत्यन्तिक सुख’ (छठे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), ‘अत्यन्त-सुख’ (छठे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक), ‘ऐकान्तिक सुख’ (चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ

श्लोक) आदि नामोंसे कहा गया है। इसका अनुभव होनेपर उस परमात्मतत्त्वमें स्वाभाविक ही एक आकर्षण होता है, जिसे प्रेम कहते हैं (गीता— अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। इस प्रेममें कभी कमी नहीं आती, प्रत्युत यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। उस तत्त्वका प्रसंग चलनेपर, उसपर विचार करनेपर पहलेसे कुछ नयापन दीखता है— यही प्रेमका प्रतिक्षण बढ़ना है। इसमें एक समझनेकी बात यह है कि प्रेमके प्रतिक्षण बढ़नेपर भी यदि ‘पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गयी’ ऐसा प्रतीत होता है, तो यह साधन-अवस्था है, यदि नयापन दीखनेपर भी ‘पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गयी’ ऐसा प्रतीत नहीं होता, तो यह सिद्ध-अवस्था है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने विषयोंसे विरक्त पुरुषको अक्षय सुखकी प्राप्ति बतायी। अब विषयोंसे विरक्ति कैसे हो—इसका आगेके श्लोकमें विवेचन करते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हि	= क्योंकि	पैदा होनेवाले	दुःखयोनयः, एव = दुःखके ही
कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	भोगाः = भोग (सुख) हैं,	कारण हैं। (अतः)
ये	= जो	ते = वे	बुधः = विवेकशील मनुष्य
संस्पर्शजाः	= इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे	आद्यन्तवन्तः = आदि-अन्तवाले (और)	तेषु = उनमें
			न, रमते = रमण नहीं करता।

व्याख्या—‘ये हि संस्पर्शजा भोगाः’—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंसे इन्द्रियोंका रागपूर्वक सम्बन्ध होनेपर जो सुख प्रतीत होता है, उसे ‘भोग’ कहते हैं। सम्बन्ध-जन्य अर्थात् इन्द्रिय-जन्य भोगमें मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं है। सुख-सुविधा और मान-बड़ाई मिलनेपर प्रसन्न होना भोग है। अपनी बुद्धिमें जिस सिद्धान्तका आदर है, दूसरे व्यक्तिसे उसी सिद्धान्तकी प्रशंसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, सुख होता है, वह भी एक प्रकारका भोग ही है। तात्पर्य यह है कि परमात्माके सिवाय जितने भी प्रकृतिजन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ, अवस्थाएँ आदि हैं, उनसे किसी भी प्रकृतिजन्य कारणके द्वारा सुखकी अनुभूति करना भोग ही है।

शास्त्रनिषिद्ध भोग तो सर्वथा त्याज्य हैं ही, शास्त्र-विहित भोग भी परमात्मप्राप्तिमें बाधक होनेसे त्याज्य ही हैं। कारण कि जडताके सम्बन्धके बिना भोग नहीं होता,

जब कि परमात्मप्राप्तिके लिये जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है।

‘आद्यन्तवन्तः’—सम्पूर्ण भोग आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं (गीता—दूसरे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। ये कभी एकरूप रह सकते ही नहीं। तात्पर्य है कि इन भोगोंकी स्वयंके साथ किसी भी अंशमें एकता नहीं है। भोग आने-जानेवाले हैं और स्वयं सदा रहनेवाला है। भोग जड हैं और स्वयं चेतन है। भोग विकारी हैं और स्वयं निर्विकार है। भोग आदि-अन्तवाले हैं और स्वयं आदि-अन्तसे रहित है। इसलिये स्वयंको भोगोंसे कभी सुख नहीं मिल सकता। जीव परमात्माका अंश है—‘ममैवांशो जीवलोकै’ (गीता १५। ७), इसलिये उसे परमात्मासे ही अक्षय सुख मिल सकता है—‘स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते’ (गीता ५। २१)। भोग आने-जानेवाले हैं—इस तरफ ध्यान जाते ही सुख-

दुःखका प्रभाव कम हो जाता है। इसलिये 'आद्यन्तवन्तः' पद भोगोंके प्रभावको मिटानेके लिये औषधरूप है।

'दुःखयोनय एव ते'—जितने भी सम्बन्ध-जन्य सुख हैं, वे सब दुःखके उत्पत्तिस्थान हैं। सम्बन्ध-जन्य सुख दुःखसे ही उत्पन्न होता है और दुःखमें ही परिणत होता है। पहले वस्तुके अभावका दुःख होता है, तभी उस वस्तुके मिलनेपर सुख होता है। वस्तुके अभावका दुःख जितनी मात्रामें होता है, वस्तुके मिलनेका सुख भी उतनी ही मात्रामें होता है।

भोगी व्यक्ति दुःखोंसे नहीं बच सकता। कारण कि भोग जडताके सम्बन्धसे होता है और जडताका सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप महान् दुःखका कारण है।

पातंजलयोगदर्शनमें कहा गया है—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (२। १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण तथा तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकी पुरुषके लिये सब-के-सब भोग दुःखरूप ही हैं।'

सम्पूर्ण विषयभोग आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें दुःख ही देनेवाले हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); क्योंकि भोगोंके परिणाममें अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य-पदार्थका नाश होता है—यह 'परिणामदुःख' है।

दूसरे व्यक्तियोंके पास अपनेसे अधिक भोग देखनेसे, अपने इच्छानुसार पूरे भोग न मिलनेसे, भीतर भोगोंकी आसक्ति होनेपर भी भोग भोगनेकी सामर्थ्य न होनेसे तथा प्राप्त भोगोंके बिछुड़ जानेकी आशंकासे भोगोंके पास रहते हुए भी हृदयमें सन्ताप रहता है—यह 'तापदुःख' है।

किसी कारणवश भोगोंका वियोग हो जानेसे मनुष्य उन भोगोंको याद कर-करके दुःखी होता है—यह 'संस्कारदुःख' है।

भोगोंमें रुचि होनेके कारण मन उन भोगोंको भोगना चाहता है; परन्तु विवेकके कारण बुद्धि उन्हें भोगनेसे रोकती है। ऐसे ही सत्संग करते समय तामसी वृत्तिके

कारण नींद आने लगती है और नींदका सुख मनुष्यको अपनी ओर खींचता है; परन्तु सात्त्विक वृत्तिके कारण उसे विचार आता है कि अभी सत्संग कर लें; क्योंकि यह मौका बार-बार मिलेगा नहीं—यह 'गुणवृत्ति-विरोध' है, जिससे साधकोंको बहुत दुःख होता है।

भोगोंको प्राप्त करना अपने वशकी बात नहीं है; क्योंकि इसमें प्रारब्धकी प्रधानता और अपनी परतन्त्रता है। परन्तु भगवान्की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य कर सकता है; क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। भोग दो मनुष्योंको भी समानरूपसे प्राप्त नहीं हो सकते, पर भगवान् मनुष्यमात्रको समानरूपसे प्राप्त हो सकते हैं। सत्ययुग आदिमें बड़े-बड़े ऋषियोंको जो भगवान् प्राप्त हुए थे, वही आज कलियुगमें भी सबको प्राप्त हो सकते हैं। भोगोंकी प्राप्ति सदाके लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती। परन्तु भगवान्की प्राप्ति सदाके लिये होती है और सबके लिये होती है। तात्पर्य यह हुआ कि भोगों- (जडता-) की प्राप्तिमें तो विभिन्नता रहती ही है, पर उनके त्यागमें सब एक हो जाते हैं।

'एव' पदका तात्पर्य है कि भोग निःसन्देह और निश्चितरूपसे दुःखके कारण हैं। उनमें सुख प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें सुखका लेश भी नहीं है।

'न तेषु रमते बुधः'—साधारण मनुष्यको जिन भोगोंमें सुख प्रतीत होता है, उन भोगोंको विवेकशील मनुष्य दुःखरूप ही समझता है। इसलिये वह उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता।

विवेकी मनुष्यको इस बातका ज्ञान रहता है कि संसारके समस्त दुःख, सन्ताप, पाप, नरक आदि संयोग-जन्य सुखकी इच्छापर ही आधारित हैं। अपने इस ज्ञानको महत्त्व देनेसे ही वह बुद्धिमान् है। परन्तु जिसने यह जान लिया है कि भोग दुःखप्रद हैं, फिर भी भोगोंकी कामना करता है और उनमें ही रमण करता है, वह वास्तवमें अपने ज्ञानको पूर्णरूपसे महत्त्व न देनेके कारण बुद्धिमान् कहलानेका अधिकारी नहीं है। अपने ज्ञानको महत्त्व देनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य भोगोंकी कामना और उनमें रमण कर ही नहीं सकता।

परिशिष्ट भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धसे होनेवाला सुख दुःखोंका कारण है। सुखके भोगीको नियमसे दुःख भोगना ही पड़ता है। सुखकी आशा, कामना और भोगसे वास्तवमें सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दुःख ही मिलता है। भोगोंका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। मनुष्य अनित्यको महत्त्व देकर ही दुःख पाता है। उसको विचार करना चाहिये कि क्या सुख चाहनेसे सुख मिल जायगा और दुःखोंका नाश हो जायगा? सुखकी इच्छा करनेसे न तो सुख मिलता

है और न दुःख मिटता है। दुःखको मिटानेके लिये सुखकी इच्छा करना दुःखकी जड़ है।

एक दुःखका भोग होता है और एक दुःखका प्रभाव होता है। जब मनुष्य दुःखका भोग करता है, तब उसमें सुखकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब उसपर दुःखका प्रभाव होता है, तब सुखकी इच्छा मिट जाती है, उससे अरुचि हो जाती है। दुःखके भोगसे मनुष्य दुःखी होता है और दुःखके प्रभावसे वह दुःखसे ऊँचा उठता है। दुःखके प्रभावसे वह दुःखमें तल्लीन न होकर उसके कारणपर विचार करता है कि मेरेको दुःख क्यों हुआ? विचार करनेपर उसको पता लगता है कि सुखासक्तिके सिवाय दुःखका और कोई कारण है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परिस्थिति भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह बेचारी एक क्षण भी टिकती नहीं। कोई प्राणी भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह हमारे पुराने पापोंका नाश करता है और आगे विकास करता है। संसार भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि जो भी परिवर्तन होता है, वह हमें दुःख देनेके लिये नहीं होता, प्रत्युत हमारे विकासके लिये होता है। अगर परिवर्तन न हो तो विकास कैसे होगा? परिवर्तनके बिना बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? रज-वीर्यका शरीर कैसे बनेगा? बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? तात्पर्य है कि स्वाभाविक परिवर्तन विकास करनेवाला है। संसारमें परिवर्तन ही सार है। परिवर्तनके बिना संसार एक अचल, स्थिर चित्रकी तरह ही होता। अतः परिवर्तन दोषी नहीं है, प्रत्युत उसमें सुखबुद्धि करना दोषी है। भगवान् भी दुःखके कारण नहीं हैं, क्योंकि वे आनन्दघन हैं, उनके यहाँ दुःख है ही नहीं।

‘न तेषु रमते बुधः’—विवेकी मनुष्य भोगोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि भोगोंकी कामना विवेकियोंकी नित्य वैरी है—‘ज्ञानिनो नित्यवैरिणा’ (गीता ३। ३९)। अविवेकीको भोग अच्छे लगते हैं; क्योंकि दोषोंमें गुणबुद्धि अविवेकसे ही होती है। सभी भोग दोषजनित होते हैं। अन्तःकरणमें कोई दोष न हो तो कोई भोग नहीं होता। दोष विवेकीको ही दीखता है। इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता अर्थात् उनसे सुख नहीं लेता।

विवेकी मनुष्य उस वस्तुको नहीं चाहता, जो सदा उसके साथ न रहे। अपने विवेकसे वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता और सामर्थ्य मेरी नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। इतना ही नहीं, अनन्त सृष्टिमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मेरी हो और मेरे लिये हो। प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी सदाके लिये मेरी नहीं है, सदा मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये विवेकी मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि जो वस्तु और व्यक्ति सदा मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं, उनके बिना मैं सदाके लिये प्रसन्नतासे रह सकता हूँ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि संयोगजन्य सुख भोगनेवाला दुःखोंसे नहीं बच सकता, तो फिर सुखी कौन होता है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

इह	= इस मनुष्य-शरीरमें	कामक्रोधोद्भवम्	= काम-क्रोधसे	सः	= वह
यः	= जो कोई		उत्पन्न	नरः	= नर
	(मनुष्य)		होनेवाले	युक्तः	= योगी है
शरीरविमोक्षणात्	= शरीर छूटनेसे	वेगम्	= वेगको		(और)
प्राक्	= पहले	सोढुम्	= सहन करनेमें	सः	= वही
एव	= ही	शक्नोति	= समर्थ होता है,	सुखी	= सुखी है।

व्याख्या—‘शक्नोतीहैव यः.....कामक्रोधोद्भवम् वेगम्’—प्राणिमात्रको एक अलौकिक विवेक प्राप्त है। यह विवेक पशु-पक्षी आदि योनियोंमें प्रसुप्त रहता है। उनमें केवल अपनी-अपनी योनिके अनुसार शरीर-निर्वाहमात्रका विवेक रहता है। देव आदि योनियोंमें यह विवेक ढका रहता है; क्योंकि वे योनियाँ भोगोंके लिये मिलती हैं; अतः उनमें भोगोंकी बहुलता तथा भोगोंका उद्देश्य रहता है। मनुष्ययोनियोंमें भी भोगी और संग्रही मनुष्यका विवेक ढका

रहता है। ढके रहनेपर भी यह विवेक मनुष्यको समय-समयपर भोग और संग्रहमें दुःख एवं दोषका दर्शन कराता रहता है। परन्तु इसे महत्त्व न देनेके कारण मनुष्य भोग और संग्रहमें फँसा रहता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस विवेकको महत्त्व देकर इसे स्थायी बना ले। इसकी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। विवेकको स्थायी बनाकर वह राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंको सर्वथा समाप्त कर सकता है। इसलिये भगवान् 'इह' पदसे मनुष्यको सावधान करते हैं कि अभी उसे ऐसा दुर्लभ अवसर प्राप्त है, जिसमें वह काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो सकता है।

मनुष्य-शरीर मुक्त होनेके लिये ही मिला है। इसलिये मनुष्यमात्र काम-क्रोधका वेग सहन करनेमें योग्य, अधिकारी और समर्थ है। इसमें किसी वर्ण, आश्रम आदिकी अपेक्षा भी नहीं है।

मृत्युका कुछ पता नहीं कि कब आ जाय; अतः सबसे पहले काम-क्रोधके वेगको सहन कर लेना चाहिये। काम-क्रोधके वशीभूत नहीं होना है—यह सावधानी जीवनभर रखनी है। यह कार्य मनुष्य स्वयं ही कर सकता है, कोई दूसरा नहीं। इस कार्यको करनेका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है, दूसरे शरीरोंमें नहीं। इसलिये शरीर छूटनेसे पहले-पहले ही यह कार्य जरूर कर लेना चाहिये—यही भाव इन पदोंमें है।

उपर्युक्त पदोंसे एक भाव यह भी लिया जा सकता है कि काम-क्रोधके वशीभूत होकर शरीर क्रिया करने लगे—ऐसी स्थितिसे पहले ही उनके वेगको सह लेना चाहिये। कारण कि काम-क्रोधके अनुसार क्रिया आरम्भ होनेके बाद शरीर और वृत्तियाँ अपने वशमें नहीं रहतीं।

भोगोंको पानेकी इच्छासे पहले उनका संकल्प होता है। वह संकल्प होते ही सावधान हो जाना चाहिये कि मैं तो साधक हूँ, मुझे भोगोंमें नहीं फँसना है; क्योंकि यह साधकका काम नहीं है। इस तरह संकल्प उत्पन्न होते ही उसका त्याग कर देना चाहिये।

पदार्थोंके प्रति राग (काम) रहनेके कारण 'अमुक पदार्थ सुन्दर और सुखप्रद हैं' आदि संकल्प उत्पन्न होते हैं। संकल्प उत्पन्न होनेके बाद उन पदार्थोंको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न हो जाती है और उनकी प्राप्तिमें बाधा देनेवालोंके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है।

काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका तात्पर्य है—काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही न होने देना। काम-क्रोधका संकल्प उत्पन्न होनेके बाद वेग आता है और वेग आनेके बाद काम-क्रोधको रोकना कठिन हो जाता है, इसलिये काम-क्रोधके संकल्पको उत्पन्न न होने देनेमें ही उपर्युक्त पदोंका भाव प्रतीत होता है। कारण यह है कि काम-क्रोधका संकल्प उत्पन्न होनेपर अन्तःकरणमें अशान्ति, उत्तेजना, संघर्ष आदि होने लग जाते हैं, जिनके रहते हुए मनुष्य सुखी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसी श्लोकमें 'स सुखी' पदोंसे काम-क्रोधका वेग सहनेवाले मनुष्यको 'सुखी' बताया गया है। दूसरी बात यह है कि काम-क्रोधके वेगको मनुष्य अपनेसे शक्तिशाली पुरुषके सामने भयसे भी रोक सकता है अथवा व्यापारमें आमदनी होती देखकर लोभसे भी रोक सकता है। परन्तु इस प्रकार भय और लोभके कारण काम-क्रोधका वेग सहनेसे वह सुखी नहीं हो जाता; क्योंकि वह जैसे क्रोधमें फँसा था, ऐसे ही भय और लोभमें फँस गया। तीसरी बात यह है कि इस श्लोकमें 'युक्तः' पदसे काम-क्रोधका वेग सहनेवाले व्यक्तिको योगी कहा गया है; परन्तु संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता (गीता—छठे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये काम-क्रोधके वेगको रोकना अच्छा होते हुए भी साधकके लिये इनके संकल्पको उत्पन्न न होने देना ही उचित है।

काम-क्रोधके संकल्पको रोकनेका उपाय है—अपनेमें काम-क्रोधको न मानना। कारण कि हम (स्वयं) रहनेवाले हैं और काम-क्रोध आने-जानेवाले हैं। इसलिये वे हमारे साथ रहनेवाले नहीं हैं। दूसरी बात, हम काम-क्रोधको अपनेसे अलगरूपसे भी जानते हैं। जिस वस्तुको हम अलगरूपसे जानते हैं, वह वस्तु अपनेमें नहीं होती। तीसरी बात, काम-क्रोधसे रहित हुआ जा सकता है—'कामक्रोधवियुक्तानाम्' (गीता ५। २६), 'एतैर्विमुक्तः' (गीता १६। २२)। इनसे रहित वही हो सकता है, जो वास्तवमें पहलेसे ही इनसे रहित होता है। चौथी बात, भगवान्ने काम-क्रोधको (जो राग-द्वेषके ही स्थूलरूप हैं) क्षेत्र अर्थात् प्रकृतिके विकार बताया है (गीता—तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक)। अतः ये प्रकृतिमें ही होते हैं, अपनेमें नहीं; क्योंकि स्वरूप निर्विकार है। इससे सिद्ध होता है कि काम-क्रोध अपनेमें नहीं हैं। इनको अपनेमें

मानना मानो इनको निमन्त्रण देना है।

‘स युक्तः नरः’—अज्ञानके द्वारा जिनका ज्ञान ढका हुआ है, ऐसे मनुष्योंको भगवान्ने इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें जन्तु (**जन्तवः**) कहा है। यहाँ काम-क्रोधका वेग सहनेमें समर्थ मनुष्यको **‘नरः’** कहा है। भाव यह है कि जो काम-क्रोधके वशमें हैं, वे मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं। जिसने काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर ली है, वही वास्तवमें नर है, शूरवीर है।

समतामें स्थित मनुष्यको योगी कहते हैं। जो अपने विवेकको महत्त्व देकर काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही नहीं होने देता, वही समतामें स्थित हो सकता है।

परिशिष्ट भाव—पहले स्फुरणा होती है। उस स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह स्फुरणा पकड़ी जाती है और संकल्प बन जाती है। संकल्पसे मनोरथ (मनोराज्य) होने लगता है, जिससे काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ, तिरसठवाँ श्लोक)। साधकके लिये एक नम्बरकी बात तो यह है कि वेग उत्पन्न ही न होने दे अर्थात् संकल्प न करे। दो नम्बरकी बात है कि वेग उत्पन्न होनेपर भी वैसी क्रिया न करे।

सम्बन्ध—बाह्य सम्बन्धसे होनेवाले सुखके अनर्थका वर्णन करके अब भगवान् आभ्यन्तर तत्त्वके सम्बन्धसे होनेवाले सुखकी महिमाका वर्णन करते हैं।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः	= जो मनुष्य (केवल)	तथा	= तथा	स्थितिका अनुभव
अन्तःसुखः	= परमात्मामें सुखवाला (और)	यः	= जो	करनेवाला
अन्तरारामः	= (केवल) परमात्मामें रमण करनेवाला है	अन्तर्ज्योतिः,		(ब्रह्मरूप बना हुआ)
		एव	=केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है,	योगी = सांख्ययोगी
		सः	= वह	ब्रह्मनिर्वाणम् = निर्वाण ब्रह्मको
		ब्रह्मभूतः	= ब्रह्ममें अपनी	अधिगच्छति = प्राप्त होता है।

व्याख्या—**‘योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः’**—जिसको प्रकृतिजन्य बाह्य पदार्थोंमें सुख प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत एकमात्र परमात्मामें ही सुख मिलता है, ऐसे साधकको यहाँ **‘अन्तःसुखः’** कहा गया है। परमात्मतत्त्वके सिवाय कहीं भी उसकी सुख-बुद्धि नहीं रहती। परमात्म-तत्त्वमें सुखका अनुभव उसे हर समय होता है; क्योंकि उसके सुखका आधार बाह्य पदार्थोंका संयोग नहीं होता।

स्वयं अपनी सत्तामें निरन्तर स्थित रहनेके लिये बाह्यकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। स्वयंको स्वयंसे दुःख नहीं होता, स्वयंको स्वयंसे अरुचि नहीं

होती—यह अन्तःसुख है।

जो सदाके लिये न मिले और सभीको न मिले, वह **‘बाह्य’** है। परन्तु जो सदाके लिये मिले और सभीको मिले, वह **‘आभ्यन्तर’** है।

जो भोगोंमें रमण नहीं करता, प्रत्युत केवल परमात्म-तत्त्वमें ही रमण करता है, और व्यवहारकालमें भी जिसका एकमात्र परमात्मतत्त्वमें ही व्यवहार हो रहा है, ऐसे साधकको यहाँ **‘अन्तरारामः’** कहा गया है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान आदि जितने भी सांसारिक ज्ञान कहे जाते हैं, उन सबका प्रकाशक और

आधार परमात्मतत्त्वका ज्ञान है। जिस साधकका यह ज्ञान हर समय जाग्रत् रहता है, उसे यहाँ 'अन्तर्ज्योतिः' कहा गया है।

सांसारिक ज्ञानका तो आरम्भ और अन्त होता है, पर उस परमात्मतत्त्वके ज्ञानका न आरम्भ होता है, न अन्त। वह नित्य-निरन्तर रहता है। इसलिये 'सबमें एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है'—ऐसा ज्ञान सांख्ययोगीमें नित्य-निरन्तर और स्वतः-स्वाभाविक रहता है।

'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'—सांख्ययोगका ऊँचा साधक ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करता है, जो परिच्छिन्नताका द्योतक है। कारण कि साधकमें 'मैं स्वाधीन हूँ', 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं ब्रह्ममें स्थित हूँ'—इस प्रकार परिच्छिन्नताके संस्कार रहते हैं। ब्रह्मभूत साधकको अपनेमें परिच्छिन्नताका अनुभव नहीं होता।

जबतक किञ्चिन्मात्र भी परिच्छिन्नता या व्यक्तित्व शेष है, तबतक वह तत्त्वनिष्ठ नहीं हुआ है। इसलिये इस अवस्थामें सन्तोष नहीं करना चाहिये।

'ब्रह्मनिर्वाणम्'—पदका अर्थ है—जिसमें कभी कोई हलचल हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं—ऐसा निर्वाण अर्थात् शान्त ब्रह्म।

जब ब्रह्मभूत सांख्ययोगीका व्यक्तित्व निर्वाण ब्रह्ममें लीन हो जाता है, तब एकमात्र निर्वाण ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् साधक परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्न हो जाता है—तत्त्वनिष्ठ हो जाता है, जो कि स्वतःसिद्ध है। ब्रह्मभूत अवस्थामें तो साधक ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करता है, पर व्यक्तित्वका नाश होनेपर अनुभव करनेवाला कोई नहीं रहता। साधक ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४।४।६)।

परिशिष्ट भाव—यहाँ 'अन्तः' पदका अर्थ 'परमात्मा' मानना चाहिये, न कि 'अन्तःकरण'। कारण कि अन्तःकरणमें सुखवाले अथवा अन्तःकरणमें रमण करनेवाले या अन्तःकरणमें ज्ञानवाले मनुष्यको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी प्राप्ति तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने निवृत्तिपूर्वक सांख्ययोगकी साधना बतायी। अब आगेके श्लोकमें प्रवृत्तिपूर्वक सांख्ययोगकी साधना बताते हैं।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

यतात्मानः	= जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है,	रताः	= रत हैं,		गये हैं,
		छिन्नद्वैधाः	= जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं,	ऋषयः	= (वे) विवेकी साधक
सर्वभूतहिते	= जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें	क्षीणकल्मषाः	= जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो	ब्रह्मनिर्वाणम्	= निर्वाण ब्रह्मको
				लभन्ते	= प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'यतात्मानः'—नित्य सत्यतत्त्वकी प्राप्तिका दृढ़ लक्ष्य होनेके कारण साधकोंको शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वशमें करने नहीं पड़ते, प्रत्युत ये स्वाभाविक ही सुगमतापूर्वक उनके वशमें हो जाते हैं। वशमें होनेके कारण इनमें राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव हो जाता है और इनके द्वारा होनेवाली प्रत्येक क्रिया दूसरोंका हित करनेवाली हो जाती है।

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपने और अपने लिये मानते रहनेसे ही ये अपने वशमें नहीं होते और इनमें राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि दोष विद्यमान रहते हैं। ये दोष

जबतक विद्यमान रहते हैं, तबतक साधक स्वयं इनके वशमें रहता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीरादिको कभी अपना और अपने लिये न माने। ऐसा माननेसे इनकी आग्रहकारिता समाप्त हो जाती है और ये वशमें हो जाते हैं। अतः जिनका शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें अपनेपनका भाव नहीं है तथा जो इन शरीरादिको कभी अपना स्वरूप नहीं मानते, ऐसे सावधान साधकोंके लिये यहाँ 'यतात्मानः' पद आया है।

'सर्वभूतहिते रताः'—सांख्ययोगकी सिद्धिमें व्यक्तित्वका अभिमान मुख्य बाधक है। इस व्यक्तित्वके

अभिमानको मिटाकर तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करनेके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव होना आवश्यक है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति ही उसके व्यक्तित्वको मिटानेका सुगम साधन है।

जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी आवश्यक है। जैसे अपने कहलानेवाले शरीरमें आकृति, अवयव, कार्य, नाम आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी ऐसा भाव रहता है कि सभी अंगोंको आराम पहुँचे, किसी भी अंगको कष्ट न हो, ऐसे ही वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें स्वाभाविक ही रति होनी चाहिये कि सबको सुख पहुँचे, सबका हित हो, कभी किसीको किंचिन्मात्र भी कष्ट न हो। कारण कि बाहरसे भिन्नता रहनेपर भी भीतरसे एक परमात्मतत्त्व ही समानरूपसे सबमें परिपूर्ण है। अतः प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनेसे व्यक्तिगत स्वार्थभाव सुगमतासे नष्ट हो जाता है और परमात्मतत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

'छिन्नद्वैधाः'—जबतक तत्त्वप्राप्तिका एक निश्चय दृढ़ नहीं होता, तबतक अच्छे-अच्छे साधकोंके अन्तःकरणमें भी कुछ-न-कुछ दुविधा विद्यमान रहती है। दृढ़ निश्चय होनेपर साधकोंको अपनी साधनामें कोई संशय, विकल्प, भ्रम आदि नहीं रहता और वे असंदिग्धरूपसे तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लग जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—लोगोंकी दृष्टिमें ज्ञानयोगी दूसरोंका हित करता हुआ (सर्वभूतहिते रताः) दीखता है, पर वास्तवमें वह दूसरोंका हित करता नहीं, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है।

सम्बन्ध—चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें भगवान्ने सांख्ययोगके साधकोंद्वारा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त करनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें यह बताते हैं कि निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उसका कैसा अनुभव होता है?

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामक्रोध-		साक्षात्कार	हुए अथवा
वियुक्तानाम् = काम-क्रोधसे		किये हुए	शरीर छूटनेके
सर्वथा रहित,	यतीनाम्	= सांख्ययोगियोंके	बाद)
यतचेतसाम् = जीते हुए		लिये	ब्रह्मनिर्वाणम् = निर्वाण
मनवाले (और)	अभितः	= सब ओरसे	ब्रह्म
विदितात्मनाम् = स्वरूपका		(शरीरके रहते	वर्तते = परिपूर्ण है।

'क्षीणकल्मषाः'—प्रकृतिसे माना हुआ जो भी सम्बन्ध है, वह सब कल्मष ही है; क्योंकि प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण कल्मषों अर्थात् पापों, दोषों, विकारोंका हेतु है। प्रकृति तथा उसके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे स्पष्टतया अपना अलग अनुभव करनेसे साधकमें निर्विकारता स्वतः आ जाती है।

'ऋषयः'—'ऋष्' धातुका अर्थ है—ज्ञान। उस ज्ञान-(विवेक-) को महत्त्व देनेवाले ऋषि कहलाते हैं। प्राचीनकालमें ऋषियोंने गृहस्थमें रहते हुए भी परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया था। इस श्लोकमें भी सांसारिक व्यवहार करते हुए विवेकपूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले साधकोंका वर्णन है। अतः अपने विवेकको महत्त्व देनेवाले ये साधक भी ऋषि ही हैं।

'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्'—ब्रह्म तो सभीको सदा-सर्वदा प्राप्त है ही, पर परिवर्तनशील शरीर आदिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण मनुष्य ब्रह्मसे विमुख रहता है। जब शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब सम्पूर्ण विकारों और संशयोंका नाश होकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्मका अनुभव हो जाता है।

'लभन्ते'—पदका तात्पर्य है कि जैसे लहरें समुद्रमें लीन हो जाती हैं, ऐसे ही सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र और लहरें—ये दो भेद नहीं हैं, ऐसे ही निर्वाण ब्रह्ममें आत्मा और परमात्मा—ये दो भेद नहीं हैं।

व्याख्या—‘कामक्रोधवियुक्तानां यतीनाम्’— भगवान् उपर्युक्त पदोंसे यह स्पष्ट कह रहे हैं कि सिद्ध महापुरुषमें काम-क्रोधादि दोषोंकी गन्ध भी नहीं रहती। काम-क्रोधादि दोष उत्पत्ति-विनाशशील असत् पदार्थों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) के सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। सिद्ध महापुरुषको उत्पत्ति-विनाशरहित सत्-तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, अतः उत्पत्ति-विनाशशील असत् पदार्थोंसे उसका सम्बन्ध सर्वथा नहीं रहता। उसके अनुभवमें अपने कहलानेवाले शरीर—अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारके साथ अपने सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है; अतः उसमें काम-क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? यदि काम-क्रोध सूक्ष्मरूपसे भी हों, तो अपनेको जीवन्मुक्त मान लेना भ्रम ही है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी इच्छाको ‘काम’ कहते हैं। काम अर्थात् कामना अभावमें पैदा होती है। अभाव सदैव असत्में रहता है। सत्-स्वरूपमें अभाव है ही नहीं। परन्तु जब स्वरूप असत्से तादात्म्य कर लेता है, तब असत्-अंशके अभावको वह अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अभाव माननेसे ही कामना पैदा होती है और कामना-पूर्तिमें बाधा लगनेपर क्रोध आ जाता है। इस प्रकार स्वरूपमें कामना न होनेपर भी तादात्म्यके कारण अपनेमें कामनाकी प्रतीति होती है। परन्तु जिनका तादात्म्य नष्ट हो गया है और स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो गया है, उन्हें स्वयंमें असत्के अभावका अनुभव हो ही कैसे सकता है?

साधन करनेसे काम-क्रोध कम होते हैं—ऐसा साधकोंका अनुभव है। जो चीज कम होनेवाली होती है, वह मिटनेवाली होती है, अतः जिस साधनसे ये काम-क्रोध कम होते हैं, उसी साधनसे ये मिट भी जाते हैं।

साधन करनेवालोंको यह अनुभव होता है कि (१) काम-क्रोध आदि दोष पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते। (२) पहले जितने वेगसे आते थे, उतने वेगसे अब नहीं आते और (३) पहले जितनी देरतक ठहरते थे, उतनी देरतक अब नहीं ठहरते। कभी-कभी

साधकको ऐसा भी प्रतीत होता है कि काम-क्रोधका वेग पहलेसे भी अधिक आ गया। इसका कारण यह है कि (१) साधन करनेसे भोगासक्ति तो मिटती चली गयी और पूर्णावस्था प्राप्त हुई नहीं। (२) अन्तःकरण शुद्ध होनेसे थोड़े काम-क्रोध भी साधकको अधिक प्रतीत होते हैं। (३) कोई मनके विरुद्ध कार्य करता है तो वह साधकको बुरा लगता है, पर साधक उसकी परवाह नहीं करता। बुरा लगनेके भावका भीतर संग्रह होता रहता है। फिर अन्तमें थोड़ी-सी बातपर भी जोरसे क्रोध आ जाता है; क्योंकि भीतर जो संग्रह हुआ था, वह एक साथ बाहर निकलता है। इससे दूसरे व्यक्तिको भी आश्चर्य होता है कि इतनी थोड़ी-सी बातपर इसे इतना क्रोध कैसे आ गया!

कभी-कभी वृत्तियाँ ठीक होनेसे साधकको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पूर्णावस्था हो गयी। परन्तु वास्तवमें जबतक पूर्णावस्थाका अनुभव करनेवाला है, तबतक (व्यक्तित्व बना रहनेसे) पूर्णावस्था हुई नहीं।

‘यतचेतसाम्’—जबतक असत्का सम्बन्ध रहता है, तबतक मन वशमें नहीं होता। असत्का सम्बन्ध सर्वथा न रहनेसे महापुरुषोंका कहलानेवाला मन स्वतः वशमें रहता है।

‘अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्’— अपने स्वरूपका वास्तविक बोध हो जानेसे उन महापुरुषोंको यहाँ **‘विदितात्मनाम्’** कहा गया है। तात्पर्य है कि जिस उद्देश्यको लेकर मनुष्यजन्म हुआ है और मनुष्यजन्मकी इतनी महिमा गायी गयी है, उसको उन्होंने प्राप्त कर लिया है।

शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद—नित्य-निरन्तर वे महापुरुष शान्त ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न क्रियाओंको करते समय साधारण मनुष्योंकी शरीरमें स्थितिकी मान्यता निरन्तर रहती है, ऐसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओंको करते समय उन महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर एक ब्रह्ममें ही रहती है। उनकी इस स्वाभाविक स्थितिमें कभी थोड़ा भी अन्तर नहीं आता; क्योंकि जिस विभागमें क्रियाएँ होती हैं, उस विभाग-(असत्-) से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि जिस तत्त्वको ज्ञानयोगी और कर्मयोगी प्राप्त करता है, उसी तत्त्वको ध्यानयोगी भी प्राप्त कर सकता है*।

* ध्यानयोग साधकको स्वतन्त्रतासे परमात्माकी प्राप्ति कराता है एवं कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके साधकोंद्वारा भी इसका उपयोग किया जा सकता है। जप, ध्यान, सत्संग और स्वाध्याय—ये प्रत्येक साधकके लिये उपयोगी हैं और आवश्यक भी।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
 प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
 यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
 विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाह्यान्	= बाहरके	नासिकामें	मोक्षपरायण है
स्पर्शान्	= पदार्थोंको	विचरनेवाले	(तथा)
बहिः	= बाहर	प्राणापानौ = प्राण और अपान	विगतेच्छा-
एव	= ही	वायुको	भयक्रोधः = (जो) इच्छा,
कृत्वा	= छोड़कर	समौ = सम	भय और
च	= और	कृत्वा = करके	क्रोधसे सर्वथा
चक्षुः	= नेत्रोंकी दृष्टिको	यतेन्द्रियमनोबुद्धिः = जिसकी	रहित है,
भ्रुवोः	= भौंहोंके	इन्द्रियाँ, मन	सः = वह
अन्तरे	= बीचमें (स्थित करके)	और बुद्धि अपने	मुनिः = मुनि
नासाभ्यन्तर-		वशमें हैं,	सदा = सदा
चारिणौ	= (तथा)	यः = जो	मुक्तः = मुक्त
		मोक्षपरायणः = (केवल)	एव = ही है।

व्याख्या—‘स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्’—परमात्माके सिवाय सब पदार्थ बाह्य हैं। बाह्य पदार्थोंको बाहर ही छोड़ देनेका तात्पर्य है कि मनसे बाह्य विषयोंका चिन्तन न करे।

बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धका त्याग कर्मयोगमें सेवाके द्वारा और ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा किया जाता है। यहाँ भगवान् ध्यानयोगके द्वारा बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी बात कह रहे हैं। ध्यानयोगमें एकमात्र परमात्माका ही चिन्तन होनेसे बाह्य पदार्थोंसे विमुखता हो जाती है।

वास्तवमें बाह्य पदार्थ बाधक नहीं हैं। बाधक है—इनसे रागपूर्वक माना हुआ अपना सम्बन्ध। इस माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेमें ही उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य है।

‘चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः’—यहाँ ‘भ्रुवोः अन्तरे’ पदोंसे दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीचमें रखना अथवा दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखना (गीता—छठे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)—ये दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं।

ध्यानकालमें नेत्रोंको सर्वथा बंद रखनेसे लयदोष अर्थात् निद्रा आनेकी सम्भावना रहती है, और नेत्रोंको सर्वथा खुला रखनेसे (सामने दृश्य रहनेसे) विक्षेपदोष आनेकी सम्भावना रहती है। इन दोनों प्रकारके दोषोंको दूर करनेके लिये आधे मुँदे हुए नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीच स्थापित करनेके लिये कहा गया है।

‘प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ’—नासिकासे बाहर निकलनेवाली वायुको ‘प्राण’ और नासिकाके भीतर जानेवाली वायुको ‘अपान’ कहते हैं।

प्राणवायुकी गति दीर्घ और अपानवायुकी गति लघु होती है। इन दोनोंको सम करनेके लिये पहले बायीं नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर दायीं नासिकासे प्राणवायुको बाहर निकाले। फिर दायीं नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर बायीं नासिकासे प्राणवायुको बाहर निकाले। इन सब क्रियाओंमें बराबर समय लगना चाहिये। इस प्रकार लगातार अभ्यास करते रहनेसे प्राण और अपानवायुकी गति सम, शान्त और सूक्ष्म हो जाती है। जब नासिकाके बाहर और भीतर तथा कण्ठादि देशमें वायुके स्पर्शका ज्ञान न हो, तब समझना चाहिये कि प्राण-अपानकी गति सम हो गयी है। इन दोनोंकी गति सम होनेपर (लक्ष्य परमात्मा रहनेसे) मनसे स्वाभाविक ही परमात्माका चिन्तन होने लगता है। ध्यानयोगमें इस प्राणायामकी आवश्यकता होनेसे ही इसका उपर्युक्त पदोंमें उल्लेख किया गया है।

‘यतेन्द्रियमनोबुद्धिः’—प्रत्येक मनुष्यमें एक तो इन्द्रियोंका ज्ञान रहता है और एक बुद्धिका ज्ञान। इन्द्रियाँ और बुद्धि—दोनोंके बीचमें मनका निवास है। मनुष्यको देखना यह है कि उसके मनपर इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है

या बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है अथवा आंशिकरूपसे दोनोंके ज्ञानका प्रभाव है। इन्द्रियोंके ज्ञानमें 'संयोग' का प्रभाव पड़ता है और बुद्धिके ज्ञानमें 'परिणाम' का। जिन मनुष्योंके मनपर केवल इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है, वे संयोगजन्य सुखभोगमें ही लगे रहते हैं; और जिनके मनपर बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है, वे (परिणामकी ओर दृष्टि रहनेसे) सुखभोगका त्याग करनेमें समर्थ हो जाते हैं—'न तेषु रमते बुधः' (गीता ५। २२)।

प्रायः साधकोंके मनपर आंशिकरूपसे इन्द्रियों और बुद्धि—दोनोंके ज्ञानका प्रभाव रहता है। उनके मनमें इन्द्रियों तथा बुद्धिके ज्ञानका द्वन्द्व चलता रहता है। इसलिये वे अपने विवेकको महत्त्व नहीं दे पाते और जो करना चाहते हैं, उसे कर भी नहीं पाते। यह द्वन्द्व ही ध्यानमें बाधक है। अतः यहाँ मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको वशमें करनेका तात्पर्य है कि मनपर केवल बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव रह जाय, इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव सर्वथा मिट जाय।

'मुनिर्मोक्षपरायणः'—परमात्मप्राप्ति करना ही जिसका लक्ष्य है, ऐसे परमात्मस्वरूपका मनन करनेवाले साधकको यहाँ 'मोक्षपरायणः' कहा गया है। परमात्मतत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण होनेके कारण सदा-सर्वदा सबको प्राप्त ही है। परन्तु दृढ़ उद्देश्य न होनेके कारण ऐसे नित्यप्राप्त तत्त्वकी अनुभूतिमें देरी हो रही है। यदि एक दृढ़ उद्देश्य बन जाय तो तत्त्वकी अनुभूतिमें देरीका काम नहीं है। वास्तवमें उद्देश्य पहलेसे ही बना-बनाया है; क्योंकि परमात्मप्राप्तिके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। केवल इस उद्देश्यको पहचानना है। जब साधक इस उद्देश्यको पहचान लेता है, तब उसमें परमात्मप्राप्तिकी लालसा उत्पन्न हो जाती है। यह लालसा संसारकी सब कामनाओंको मिटाकर साधकको परमात्मतत्त्वका अनुभव करा देती है। अतः परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको पहचाननेके लिये ही यहाँ 'मोक्षपरायणः' पदका प्रयोग हुआ है।

कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी? इसलिये यहाँ 'मोक्षपरायणः' पदसे ध्यानयोगमें दृढ़ निश्चयकी आवश्यकता बतायी गयी है।

'विगतेच्छाभयक्रोधो यः'—अपनी इच्छाकी पूर्तिमें बाधा देनेवाले प्राणीको अपनेसे सबल माननेपर उससे भय होता है और निर्बल माननेसे उसपर क्रोध आता है। ऐसे

ही जीनेकी इच्छा रहनेपर मृत्युसे भय होता है और दूसरोंसे अपनी इच्छापूर्ति करवाने तथा दूसरोंपर अपना अधिकार जमानेकी इच्छासे क्रोध होता है। अतः भय और क्रोध होनेमें इच्छा ही मुख्य है। यदि मनुष्यमें इच्छापूर्तिकी उद्देश्य न रहे प्रत्युत एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रह जाय, तो भय-क्रोधसहित इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। इच्छाका सर्वथा अभाव होनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। कारण कि वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छासे ही मनुष्य जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ता है। साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि क्या वस्तुओंकी इच्छासे वस्तुएँ मिल जाती हैं? और क्या जीनेकी इच्छासे मृत्युसे बच जाते हैं? वास्तविकता तो यह है कि न तो वस्तुओंकी इच्छा पूरी कर सकते हैं और न मृत्युसे बच सकते हैं। इसलिये यदि साधकका यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि मुझे एक परमात्मप्राप्तिके सिवाय कुछ नहीं चाहिये, तो वह वर्तमानमें ही मुक्त हो सकता है। परन्तु यदि वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छा रहेगी, तो इच्छा कभी पूरी नहीं होगी और मृत्युके भयसे भी बचाव नहीं होगा तथा क्रोधसे भी छुटकारा नहीं होगा। इसलिये मुक्त होनेके लिये इच्छारहित होना आवश्यक है।

यदि वस्तु मिलनेवाली है तो इच्छा किये बिना भी मिलेगी और यदि वस्तु नहीं मिलनेवाली है तो इच्छा करनेपर भी नहीं मिलेगी। अतः वस्तुका मिलना या न मिलना इच्छाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। जो वस्तु इच्छाके अधीन नहीं है, उसकी इच्छाको छोड़नेमें क्या कठिनाई है? यदि वस्तुकी इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करनेका प्रयत्न करते और यदि जीनेकी इच्छा पूरी होती हो तो मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु इच्छाके अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्युसे बचाव ही होता है। यदि वस्तुओंकी इच्छा न रहे तो जीवन आनन्दमय हो जाता है और यदि जीनेकी इच्छा न रहे तो मृत्यु भी आनन्दमयी हो जाती है। जीवन तभी कष्टमय होता है, जब वस्तुओंकी इच्छा करते हैं और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं। इसलिये जिसने वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया है, वह जीते-जी मुक्त हो जाता है, अमर हो जाता है।

'सदा मुक्त एव सः'—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही बन्धन है। इस माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग करना ही मुक्ति है। जो मुक्त हो

गया है, उसपर किसी भी घटना, परिस्थिति, निन्दा-स्तुति, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण आदिका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता।

‘सदा मुक्त एव’ पदोंका तात्पर्य है कि वास्तवमें साधक

स्वरूपसे सदा मुक्त ही है। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण उसे अपने मुक्त स्वरूपका अनुभव नहीं हो रहा है। संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिटते ही स्वतःसिद्ध मुक्तिका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है—स्वयंको शरीरसे अलग कर लेना कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये नहीं है। ये तीन बातें प्रत्येक साधकको माननी ही पड़ेंगी, चाहे वह किसी भी योगमार्गसे क्यों न चले। शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

पहले चौबीसवें श्लोकमें ‘अन्तः’ शब्द आया था, इसलिये यहाँ ‘बाह्य’ शब्द दिया है। वास्तवमें बाह्य कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत केवल वृत्ति है। ‘बाह्य’ शब्दका प्रयोग दूसरी सत्ता मानकर ही होता है, जबकि वास्तवमें सत्ता एक ही है। अतः ‘स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्’ पदोंका तात्पर्य है कि एक तत्त्वके सिवाय दूसरी किसी सत्ताकी मान्यता न रहे।

सम्बन्ध—भगवान्ने योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठाका वर्णन करके दोनोंके लिये उपयोगी ध्यानयोगका वर्णन किया। अब सुगमतापूर्वक कल्याण करनेवाली भगवन्निष्ठाका वर्णन करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

माम्	= मुझे	लोकोंका महान्	दयालु और
यज्ञतपसाम्	= सब यज्ञों और तपोंका	ईश्वर (तथा)	प्रेमी)
भोक्तारम्	= भोक्ता,	सर्वभूतानाम् = सम्पूर्ण प्राणियोंका	ज्ञात्वा = जानकर (भक्त)
सर्वलोकमहेश्वरम् = सम्पूर्ण	सुहृदम्	= सुहृद् (स्वार्थरहित)	शान्तिम् = शान्तिको
			ऋच्छति = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—‘भोक्तारं यज्ञतपसाम्’—जब मनुष्य कोई शुभ कर्म करता है, तब वह जिनसे शुभ कर्म करता है, उन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको अपना मानता है और जिसके लिये शुभ कर्म करता है, उसे उस कर्मका भोक्ता मानता है; जैसे—किसी देवताकी पूजा की तो उस देवताको पूजारूप कर्मका भोक्ता मानता है; किसीकी सेवा की तो उसे सेवारूप कर्मका भोक्ता मानता है; किसी भूखे व्यक्तिको अन्न दिया तो उसे अन्नका भोक्ता मानता है, आदि। इस मान्यताको दूर करनेके लिये भगवान् उपर्युक्त पदोंमें कहते हैं कि वास्तवमें सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका भोक्ता मैं ही हूँ। कारण कि प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् ही विद्यमान हैं*। इसलिये किसीका पूजन करना, किसीको अन्न-जल देना, किसीको मार्ग बताना आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भोक्ता भगवान्को ही मानना चाहिये। लक्ष्य भगवान्पर ही रहना चाहिये, प्राणीपर नहीं।

नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता बताया है—‘अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता।’

दूसरी बात यह है कि जिनसे शुभ कर्म किये जाते हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्के हैं। उनको अपना मानना भूल ही है। उनको अपना मानकर अपने लिये शुभ कर्म करनेसे मनुष्य स्वयं उन कर्मोंका भोक्ता बन जाता है। अतः भगवान् कहते हैं कि तुम सम्पूर्ण शुभ कर्मोंको अपने लिये कभी मत करो, केवल मेरे लिये ही करो। ऐसा करनेसे तुम उन कर्मोंके फलभागी नहीं बनोगे और तुम्हारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

कामनासे ही सम्पूर्ण अशुभ कर्म होते हैं। कामनाका त्याग करके केवल भगवान्के लिये ही सब कर्म करनेसे अशुभ कर्म तो स्वरूपसे ही नहीं होते तथा शुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा

* ‘हृदि सर्वस्य विष्ठितम्’ (गीता १३। १७), ‘सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः’ (गीता १५। १५), ‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति’ (गीता १८। ६१)।

सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

‘**सर्वलोकमहेश्वरम्**’—भिन्न-भिन्न लोकोंके भिन्न-भिन्न ईश्वर हो सकते हैं; किन्तु वे भी भगवान्के अधीन ही हैं। भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, इसलिये यहाँ ‘**सर्वलोकमहेश्वरम्**’ पद दिया गया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र स्वामी भगवान् ही हैं, फिर कोई ईमानदार व्यक्ति सृष्टिकी किसी भी वस्तुको अपनी कैसे मान सकता है?

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान आदिको अपने मानते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि भगवान् ही सारे संसारके मालिक हैं। परन्तु ऐसा कहना समझदारी नहीं है; क्योंकि मनुष्य जबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिको अपने मानता है, तबतक भगवान्को सारे संसारका स्वामी कहना अपने-आपको धोखा देना ही है। कारण कि यदि सभी लोग शरीरादि पदार्थोंको अपने-अपने ही मानते रहें तो बाकी क्या रहा, जिसके स्वामी भगवान् कहलायें? अर्थात् भगवान्के हिस्सेमें कुछ नहीं बचा। इसलिये ‘सब कुछ भगवान्का है’—ऐसा वही कह सकता है, जो शरीरादि किसी भी पदार्थको अपना नहीं मानता। जो किसी भी वस्तुको अपनी मानता है, वह वास्तवमें भगवान्को यथार्थरूपसे सर्वलोकमहेश्वर मानता ही नहीं। वह जितनी वस्तुओंको अपनी मानता है, उतने अंशमें भगवान्को सर्वलोकमहेश्वर माननेमें कमी रहती है।

मनुष्यको शरीरादि पदार्थोंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपने माननेका बिलकुल नहीं। इन पदार्थोंको अपने न मानकर केवल भगवान्के ही मानते हुए उन्हींकी सेवामें लगा देनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

‘**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**’—जो सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, वे बिना कारण स्वाभाविक ही प्राणिमात्रका हित करनेवाले, प्राणिमात्रकी रक्षा करनेवाले तथा प्राणिमात्रसे प्रेम करनेवाले हैं और ऐसा हितैषी, रक्षक तथा प्रेमी दूसरा कोई नहीं है—इस प्रकार जान^१ लेनेसे परमशान्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि वे वास्तवमें ऐसे ही हैं। महान् शक्तिशाली भगवान् बिना किसी प्रयोजनके हमारे परम सुहृद् हैं, फिर भय, चिन्ता, उद्वेग,

अशान्ति आदि कैसे हो सकते हैं?

जीवमात्रका बिना कारण हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त^२। भगवान्को किसीसे कुछ भी पाना है ही नहीं—‘**नानवाप्तमवाप्तव्यम्**’ (गीता ३।२२), इसलिये वे स्वाभाविक ही सबके सुहृद् हैं। भक्त भी अपने लिये किसीसे कुछ भी नहीं चाहता और सबका हित चाहता तथा हित करता है, इसलिये वह भी सबका सुहृद् होता है—‘**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**’ (श्रीमद्भा० ३।२५।२१)। भक्तोंमें जो सुहृत्ता आती है, वह भी मूलतः भगवान्से ही आती है।

भगवान् सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंके भोक्ता हैं, सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर हैं तथा हमारे परम सुहृद् हैं—इन तीनों बातोंमेंसे अगर एक बात भी दृढ़तासे मान लें, तो भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, फिर तीनों ही बातें मान लें तो कहना ही क्या है!

अपने लिये कुछ भी चाहना, किसी भी वस्तुको अपनी मानना और भगवान्को अपना न मानना—ये तीनों बातें भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधक हैं। भगवान् ‘**भोक्त्तारं यज्ञतपसाम्**’ पदोंसे कहते हैं कि अपने लिये कुछ भी न चाहे और कुछ भी न करे; ‘**सर्वलोकमहेश्वरम्**’ पदसे कहते हैं कि अपना कुछ भी न माने अर्थात् सुखकी इच्छाका और वस्तु-व्यक्तियोंके आधिपत्यका त्याग कर दे तथा ‘**सुहृदं सर्वभूतानाम्**’ पदोंसे कहते हैं कि केवल मेरेको ही अपना माने, अन्य किसी वस्तु-व्यक्ति आदिको अपना न माने। इन तीनोंमेंसे एक बात भी मान लेनेसे शेष बातें स्वतः आ जाती हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

अपने लिये सुखकी इच्छाका त्याग तभी होता है, जब मनुष्य किसी भी प्राणी-पदार्थको अपना न माने। जबतक किसी भी पदार्थको अपना मानता है, तबतक वह बदलेमें सुख चाहेगा ही। सुखकी इच्छाके त्यागसे ममताका त्याग और ममताके त्यागसे सुखकी इच्छाका त्याग होता है। जब सब वस्तु-व्यक्तियोंमें ममताका त्याग हो जाता है, तब एकमात्र भगवान् ही अपने रह जाते हैं। जो किसीको भी अपना मानता है, वह वास्तवमें भगवान्को सर्वथा अपना नहीं मानता, कहनेको चाहे कहता रहे कि भगवान् मेरे हैं।

१-यहाँ जाननेका अर्थ है—दृढ़तापूर्वक मानना। मानना जाननेसे कमजोर नहीं होता। इसलिये दृढ़तासे मान लेना भी जानना ही है।

२-हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ (मानस ७।४७।३)

माने हुए सम्बन्धका अभाव होनेसे भगवान्से अपनी सच्ची आत्मीयता जाग्रत् हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि चाहे सुखकी इच्छाका त्याग हो जाय, चाहे ममताका अभाव हो जाय और चाहे भगवान्में सच्ची आत्मीयता हो जाय; इसके होते ही परमशान्तिका अनुभव हो जायगा। कारण कि एक भी भाव दृढ़ होनेपर अन्य भाव भी साथमें आ ही जाते हैं।

एक तो कर्म करना चाहिये और दूसरा, कर्म करनेकी विद्या आनी चाहिये। जब मनुष्य कर्म तो करता है, पर कर्म करनेकी विद्या नहीं जानता अथवा कर्म करनेकी विद्या तो जानता है, पर कर्म नहीं करता, तब उसके द्वारा

सुचारुरूपसे कर्म नहीं होते। इसलिये भगवान्ने तीसरे अध्यायमें कर्म करनेपर विशेष जोर दिया है, पर साथमें कर्मोंको जाननेकी बात भी कही है; और चौथे अध्यायमें कर्मोंका तत्त्व जाननेपर विशेष जोर दिया है, और साथमें कर्म करनेकी बात भी कही है। पाँचवें अध्यायमें यद्यपि कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंके द्वारा कल्याण होनेकी बात आयी है, तथापि भगवान्ने सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है। इस अध्यायमें भगवान्ने क्रमपूर्वक कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन करके फिर संक्षेपसे ध्यानयोगका वर्णन किया और अन्तमें संक्षेपसे भक्तियोगका वर्णन किया, जो भगवान्का मुख्य ध्येय है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंका वर्णन होनेसे इस पाँचवें अध्यायका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' है।

पाँचवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ पञ्चमोऽध्यायः' के तीन, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ बावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ बहत्तर है।

(२) इस अध्यायमें 'अथ पञ्चमोऽध्यायः' के सात, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके नौ सौ अट्ठाईस और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार

सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ छियानबे है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो 'उवाच' हैं—एक 'अर्जुन उवाच' और एक 'श्रीभगवानुवाच।'

पाँचवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके उनतीस श्लोकोंमेंसे—तेरहवें और उनतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; और बाईसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष छब्बीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

